ॐ

प्रियप्रवास

भिन्नतुकान्त कविता का एक हिन्दी महाकाव्य

निज़ामाबाद निवासी

साहित्यरत्न

पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय

संकेत नाम " हरिऔध " प्रणीत



प्रकाशक—

खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर

बाबू रामप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित

चतुर्थ बार] [मूल्य २)



साहित्य-रत्न पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय

भूमिका

विचार-सूत्र ।

सहृदय वाचकवृन्द !

मैं बहुत दिनों से हिन्दी भाषा में एक काव्य-ग्रन्थ लिखने के लिये लालायित था। आप कहेंगे कि जिस भाषा में 'रामचरितमानस' 'सूरसागर' 'रामचन्द्रिका' 'पृथ्वीराज रायसा' पद्‌मावत' इत्यादि जैसे बड़े अनूठे काव्य प्रस्तुत हैं, उसमें तुम्हारे जैसे अल्पज्ञ का काव्य लिखने के लिये समुत्सुक होना वातुलता नहीं तो क्या है? यह सत्य है किन्तु मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है; बने या न बने, सेवा-प्रणाली सुखद और हृदय-ग्राहिणी होवे या न होवे, परन्तु एक-लालायित-चित्त अपनी प्रबल लालसा को पूरी किये बिना कैसे रहे? जिसके कान्त-पादांबुजों की निखिल-शास्त्र-पारंगत पूज्यपाद-महात्मा-तुलसीदास कवि-शिरोरत्न-महात्मा-सूरदास, जैसे महाजनों ने परम-सुगंधित अथच उत्फुल्ल-पाटल प्रसून अर्पण कर अर्चना की है—कवि कुल-मण्डली-मण्डन केशव, देव, बिहारी, पद्‌माकर, इत्यादि सहृदयों ने अपनी विकच-मल्लिका चढ़ा कर भक्ति-गद्‌गद्-चित्त से आराधना की है- क्या उसकी मैं एक नितान्त साधारण पुष्प द्वारा पूजा नहीं कर सकता? यदि 'स्वान्तः सुखाय' मैं ऐसा कर सकता हूं तो अपनी टूटी फूटी भाषा में एक हिन्दी-काव्य-ग्रन्थ भी लिख सकता हूं; निदान इसी विचार के वशीभूत होकर मैंने 'प्रियप्रवास' नामक इस काव्य की रचना की है।

काव्यभाषा।

यह काव्य खड़ी बोली में लिखा गया है। खड़ी बोली में छोटे छोटे कई काव्यग्रन्थ अब तक लिपिबद्ध हुए हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश सौ दो सौ पद्यों में ही समाप्त हैं, जो कुछ बड़े हैं वे अनुवादित हैं मौलिक नहीं। सहृदय-कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथवध' निस्सन्देह मौलिक ग्रन्थ है परन्तु यह खण्ड-काव्य है। इसके अतिरिक्त ये समस्त-ग्रन्थ अन्त्यानुप्रास बिभूषित हैं, इस लिये खड़ी बोल-चाल में मुझको एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता देख पड़ी, जो महाकाव्य हो, और ऐसी कविता में लिखा गया हो, जिसे भिन्नतुकान्त कहते हैं। अतएव मैं इस न्यूनता की पूर्त्ति के लिये कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ, और अनवरत परिश्रम कर के इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो कि आज आप लोगों के कर-कमलों में सादर समर्पित है। मैंने पहले इस ग्रन्थ का नाम 'ब्रजांगना बिलाप' रखा था, किन्तु कई कारणों से मुझको यह नाम परिवर्त्तन करना पड़ा, जो इस ग्रन्थ के समग्र पढ़ जाने पर आपलोगों को स्वयं अवगत होंगे। मुझमें महा-काव्यकार होने की योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नहीं जो महाकाव्य के लिये उपयुक्त उपस्कर संग्रह करने में कृतकार्य्य हो सके, अतएव मैं किस मुख से यह कह सकता हूं कि 'प्रियप्रवास' के बन जाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हो गई। हां, विनीत भाव से केवल इतना ही निवेदन करूंगा कि महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रन्थ सत्रह सर्गों में केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देख कर हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ सुकवियों और सुलेखकों का ध्यान इस त्रुटि के निवारण

करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ मर्म्म-स्पर्शिनी-सुलेखनी द्वारा लिपिबद्ध हो कर खड़ी बोली में सर्वांगसुन्दर कोई महाकाव्य आपलोगों को हस्तगत नहीं होता, तब तक यह अपने सहज रूप में आप लोगों के ज्योति-विकीर्ण-कारी उज्ज्वल चक्षुओं के सम्मुख है और एक सहृदय कवि के कण्ठ से कण्ठ मिला कर यह प्रार्थना करता है 'जबलौं फुलै न केतकी, तबलौं बिलम करील'।

—:०:—

कवितामणाली।

यद्यपि वर्त्तमान पत्र और पत्रिकाओं में कभी कभी एक आध भिन्नतुकान्त कविता किसी उत्साही-युवक-कवि की लेखनी से प्रसूत हो कर आजकल प्रकाशित हो जाती है, तथापि मैं यह कहूंगा कि भिन्नतुकान्त कविता भाषासाहित्य के लिये एक बिल्कुल नई वस्तु है, और इस प्रकार की कविता में किसी काव्य का लिखा जाना तो ' नूतनं नूतनं पदे पदे' है। इस लिये महाकाव्य लिखने के लिये लालायित हो कर जैसे मैंने बालचापल्य किया है, उसी प्रकार अपनी अल्प-विषया-मति साहाय्य से अतुकान्त कविता में महाकाव्य लिखने का यत्न करके मैं अतीव उपहासास्पद हुआ हूं किन्तु, यह एक सिद्धान्त है कि 'अकरणात् मन्दकरणम् श्रेयः' और इसी सिद्धान्त पर आरूढ़ हो कर मुझसे उचित या अनुचित यह साहस हुआ है। किसी कार्य्य में सयत्न होकर सफलता लाभ करना बड़े भाग्य की बात है, किन्तु सफलता न लाभ होने पर सयत्न होना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। भाषा में महाकाव्य और भिन्नतु-कान्त कविता में लिख कर मेरे जैसे विद्या बुद्धि के मनुष्य का सफलता लाभ करना यद्यपि असंभव बात है किन्तु

इस कर्य्य के लिये मेरा सयत्न होना गर्हित नहीं हो सकता, क्योंकि 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान'। जो हो परन्तु यह 'प्रियप्रवास' ग्रंथ आद्योपान्त अतुकान्त कविता में लिखा गया है--अतः मेरे लिये यह पथ सर्वथा नूतन है अतएव आशा है कि विद्वद्जन इसकी त्रुटियों पर सहानुभूतिपूर्वक दृष्टिपात करेंगे।

संस्कृत के समस्त काव्य-ग्रंथ अतुकान्त अथवा अन्त्यानुप्रासहीन कविता से भरे पड़े हैं। चाहे लघुत्रयी रघुवंश आदि चाहे बृहत्त्रयी किरातादि, जिसको लीजिये उसीमें आप भिन्नतुकान्त कविता का अटल राज्य पावेंगे। परन्तु हिन्दी काव्य-ग्रंथों में इस नियम का सर्वथा व्यभिचार है। उसमें आप अन्त्यानुप्रास-हीन कविता पावेंगे ही नहीं। अन्त्यानुप्रास बड़े ही श्रवण-सुखद होते हैं और कथन को भी मधुरतर बना देते हैं। ज्ञात होता है हिन्दी काव्य-ग्रन्थों में इसी कारण अन्त्यानुप्रास की इतनी प्रचुरता है। बालकों की बोलचाल में, निम्न जातियों के साधारण कथन और गान तक में आप इसका आदर देखेंगे, फिर यदि हिन्दी काव्य ग्रंथों में इसका समादर अधिकता से हो तो आश्चर्य्य क्या है? हिन्दी ही नहीं यदि हमारे भारतवर्ष की प्रान्तिक भाषाओं— बंगला, पंजाबी, मरहठी, गुजराती आदि—पर आप दृष्टि डालेंगे तो वहां भी अन्त्यानुप्रास का ऐसा ही समादर पावेंगे, उर्दू और फारसी में भी इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है, अरबी का तो जीवन ही अन्त्यानुप्रास है, उसके पद्य-भाग को कौन कहे, गद्य-भाग में भी अन्त्यानुप्रास की बड़ी छटा है। मुसल्मानों के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ कुरान को उठा लीजिये, यह गद्य ग्रंथ है, किन्तु इसमें अन्त्यानुप्रास की भरमार है। चीनी जापानी जिस भाषा को लीजिये, एशिया छोड़कर यूरप और अफ्रिका में चले जाइये, जहां जाइयेगा वहीं कविता में

उसको बहुत ही भद्दी पाया, यदि कोई कविता अच्छी भी मिली तो उसमें वह लावण्य नहीं मिला, जो संस्कृत वृत्तों में पाया जाता है, अतएव मैंने इस ग्रंथ को संस्कृत वृत्तों में ही लिखा है। यह भी भाषा-साहित्य में एक नई बात है। जहां तक मैं अभिज्ञ हूं अब तक हिन्दी भाषा में केवल संस्कृत छन्दों में कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया है। जबसे हिन्दी भाषा में खड़ी बोली की कविता का प्रचार हुआ है तब से लोगों की दृष्टि संस्कृतवृत्तों की ओर आकर्षित है, तथापि मैं यह कहूंगा कि भाषा में कविता के लिये संस्कृत छन्दों का प्रयोग अब भी उत्तम दृष्टि से नहीं देखा जाता। हम लोगों के आचार्य्यवत् मान्य श्रीयुत पण्डित बालकृष्ण भट्ट अपनी द्वितीय साहित्य सम्मेलन की स्वागत-सम्बन्धिनी वक्तृता में कहते हैं :—

"आज कल छन्दों के चुनाव में भी लोगों की अजीब रुचि हो रही है; इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि संस्कृत छन्दों का हिन्दी में अनुकरण हममें तो कुढ़न पैदा करता है।"

—द्वि॰ हि॰ सा॰ स॰ का कार्य्यविवरण २ भाग पृ॰ ८

'प्रियप्रवास' ग्रंथ १५ अक्तूवर सन् १९०९ ई॰ को प्रारम्भ और कार्य्य-बाहुल्य से २४ फरवरी सन् १९१३ ई॰ को समाप्त हुआ है। जिस समय आधे ग्रंथ को मैं लिख चुका था, उस समय माननीय पण्डितजी का उक्त वचन मुझे दृष्टिगोचर हुआ। देखते ही अपने कार्य्य पर मुझ को कुछ क्षोभ सा हुआ, परन्तु मैं करता तो क्या करता, जिस ढंग से ग्रंथ प्रारम्भ हो चुका था, उसमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त श्रद्धेय पण्डित जी का उक्त विचार मुझको सर्वांश में समुचित नहीं जान पड़ा, क्योंकि हिन्दी भाषा के छन्दों से संस्कृत वृत्त खड़ी बोली की कविता के लिए अधिक उपयुक्त है, और ऐसी अवस्था में वह सर्वथा

त्याज्य नहीं कहे जा सकते। मैं दो एक वर्त्तमान भाषा-साहित्य-अनुरागियों की अनुमति नीचे प्रकाश करता हूं। इन अनुमतियों के पठन से भी मेरे उस सिद्धान्त की पुष्टि होती है, कि जिसको अवलम्बन कर मैंने संस्कृत वृत्तों में अपना ग्रंथ रचा है। उदीयमान युवक कवि पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी सम्वत् १९६८ में प्रकाशित अपने हिन्दी मेघदूत की भूमिका के पृष्ठ ३,४ में लिखते हैं—

"जबतक खड़ी बोली की कविता में संस्कृत के ललित-वृत्तों की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तों के विद्वान उससे सच्चा आनन्द कैसे उठा सकते हैं? यदि राष्ट्र भाषा हिन्दी के काव्य-ग्रंथों का स्वाद अन्य प्रान्तवालों को भी चखाना है तो उन्हें संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी, पृथ्वी, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि ललित वृत्तों से अलंकृत करना चाहिये। भारत के भिन्न प्रान्तों के निवासी विद्वान् संस्कृत भाषा के वृत्तों से अधिक परिचित हैं, इसका कारण यही है कि संस्कृत भारतवर्ष की पूज्य और प्राचीन भाषा है। भाषा का गौरव बढ़ाने के लिये काव्य में अनेक-प्रकार के ललित-वृत्तों और नूतन-छन्दों का भी समावेश होना चाहिये।"

साहित्यमर्मज्ञ, सहृदयवर, समादरणीय श्रीयुत पण्डित मन्नन द्विवेदी, तहसीलदार, बलिया सम्वत् १९७० में प्रकाशित 'मर्य्यादा' की ज्येष्ठ, आषाढ़ की मिलित संख्या के पृष्ठ ९९ में लिखते हैं—

"यहाँ एक बात बतला देना बहुत जरूरी है। जो बेतुकान्त की कविता लिखे, उसको चाहिये कि संस्कृत के छन्दों को काम में लाये। मेरी ख्याल है कि हिन्दी पिंगल के छन्दों में बेतुकान्त की कविता अच्छी नहीं लगती। स्वर्गीय साहित्याचार्य्य पं० अम्बिकादत्तजी व्यास ऐसे विद्वान भी

हिन्दी छन्दों में अच्छी बेतुकान्त की कविता नहीं कर सके। कहना नहीं होगा कि व्यासजी का कंसबध-काव्य बिल्कुल रद्दी हुआ है।"

अब रही यह बात कि संस्कृत-छन्दों का प्रयोग मैं उपयुक्त रीति से कर सका हूं या नहीं, और उनके लिखने में मुझको यथोचित-सफलता हुई है वा नहीं। मैं इस विषय में कुछ लिखना नहीं चाहता, इसका बिचार भाषा-मर्म्मज्ञों के हाथ है। हां यह अवश्य कहूंगा कि आद्य उद्योग में असफल होने की ही अधिक आशंका है।

भाषाशैली।

'प्रियप्रवास' की भाषा संस्कृतगर्भित है। उसमें हिन्दी के स्थान पर संस्कृत का रंग अधिक है। अनेक विद्वान् सज्जन इससे रुष्ट होंगे, कहेंगे कि यदि इस भाषा में 'प्रियप्रवास' लिखा गया तो अच्छा होता यदि संस्कृत में ही यह ग्रन्थ लिखा जाता। कोई भाषा-मर्म्मज्ञ सोचेंगे, इस प्रकार संस्कृत शब्दों को ठूंस कर भाषा के प्रकृत रूप को नष्ट करने की चेष्टा करना नितान्त-गर्हित-कार्य्य है। उक्त वक्तृता में भट्ट जी एक स्थान पर कहते हैं—

"दूसरी बात जो मैं आजकल खड़ी बोली के कवियों में देख रहा हूं, वह समासबद्ध-क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग है, यह भी पुराने कवियों की पद्धति के प्रतिकूल है।

इस विचार के लोगों से मेरी यह विनीत-प्रार्थना है कि क्या मेरे इस एक ग्रन्थ से ही भाषा-साहित्य की शैली परिवर्तित हो जावेगी? क्या मेरे इस काव्य की लेखप्रणाली ही अब से सर्वत्र प्रचलित और गृहित होगी? यदि नहीं, तो इस प्रकार का तर्क समीचीन न होगा। हिन्दी भाषा में सरल-पद्य में एक से एक सुन्दर ग्रन्थ हैं। जहां इस प्रकार

साधारण वा सरल हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों की ही अधिक आवश्यकता है और यही कारण है कि मैंने हिन्दी में कतिपय संस्कृत-गर्भित ग्रन्थों की प्रयोजनीयता बतलाई है। परन्तु यह भी सोच लेने की बात है कि क्या यहांवालों को उच्च हिन्दी से परिचित कराने के लिये ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं है, और यदि है तो मेरा यह ग्रन्थ केवल इसी कारण से उपेक्षित होने योग्य नहीं। जो सज्जन मेरे इतना निवेदन करने पर भी अपनी भौंह की वंकता निवारण न कर सकें, उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे 'वैदेही बनवास' के करकमलों में पहुंचने तक मुझे क्षमा करें, इस ग्रन्थ को मैं अत्यन्त सरल हिन्दी और प्रचलित छन्दों में लिख रहा हूं।

मैंने ऊपर लिखा है कि 'क्या रामचरितमानस' 'रामचन्द्रिका' और 'विनयपत्रिका' से भी, 'प्रियप्रवास' अधिक संस्कृतगर्भित है, मेरे इस वाक्य से संभव है कि कुछ भ्रम उत्पन्न होवे और यह समझा जावे कि मैं इन पूज्य ग्रन्थों के वन्दनीय ग्रन्थकारों से स्पर्द्धा कर रहा हूं और अपने कांच की हीरक-खण्ड के साथ तुलना करने में सयत्न हूं। अतएव मैं यहां स्पष्ट शब्दों में प्रगट कर देता हूं कि मेरे उक्त वाक्य का मर्म्म केवल इतना ही है कि संस्कृत-शब्दों के बाहुल्य से कोई ग्रन्थ अनादृत नहीं हो सकता। यह और बात है कि संस्कृत शब्दों का प्रयोग उचित रीति और चारु-रूपेण न हो सके, और इस कारण से कोई ग्रन्थ हास्यास्पद और निन्दनीय बन जावे।

कवितागत स्वारस्य।

हिन्दी के कतिपय-वर्त्तमान-साहित्यसेवियों का यह भी विचार है, कि खड़ी बोली में सरस और मनोहर कविता नहीं हो सकती। पूज्य पण्डितजी अपने उक्त भाषण में ही एक स्थान पर लिखते हैं—

"खड़ी बोली की कविता पर हमारे लेखकों का समूह इस समय टूट पड़ा है। आज कल के पत्रों और मासिक पत्रिकाओं में बहुत सी इस तरह की कवितायें छपी हैं, परन्तु इनमें अधिकतर ऐसी हैं जिनको कविता कहना ही कविता की मानों हँसी करना है; हमें तो काव्य के गुण इनमें बहुत कम जँचते हैं।"

"मेरे विचार में खड़ीबोली में एक इस प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम में ला उसमें सरसता सम्पादन करना प्रतिभावान के लिये भी कठिन है तब तुकबन्दी करनेवालों की कौन कहे।"

इन सज्जनों का विचार यह है कि 'मधुर कोमल-कान्त-पदावली' जिस कविता में न हो वह भी कोई कविता है! कविता तो वही है जिसमें कोमल शब्दों का विन्यास हो, जो मधुर अथच कान्त-पदावली द्वारा अलंकृत हो। खड़ी बोली में अधिकतर संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है, जो हिन्दी के शब्दों की अपेक्षा कर्कश होते हैं। इसके व्यतीत उसकी क्रिया भी ब्रजभाषा की क्रिया से रूखी और कठोर होती है, और यही कारण है कि खड़ी बोली की कविता सरस नहीं होती और कविता का प्रधान गुण माधुर्य्य और प्रसाद उसमें नहीं पाया जाता। यहां पर मैं यह कहूंगा कि पदावली की कान्तता, मधुरता, कोमलता केवल पदावली में ही सन्निहित है या उसका कुछ सम्बन्ध मनुष्य के संस्कार और उसके हृदय से भी है? मेरा विचार है कि उसका कुछ सम्बन्ध नहीं, वरन् बहुत कुछ सम्बन्ध मनुष्य के संस्कार और उसके हृदय से है। कर्पूरमंजरीकार प्रसिद्ध राजशेखर कवि अपनी प्रस्तावना में प्राकृतभाषा की कोमलता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं:—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबन्धोपि होइ सुउमारो।
पुरुसाणं महिलाणं जेत्तिय मिहन्तरं तेत्तिय मिमाणम्॥

इस श्लोक के साथ निम्नलिखित संस्कृत रचनाओं को मिला कर पढ़िये।

इतर पापफलानि यथेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम् शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥
विद्या विनयोपेता हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य।
काञ्चनमणिसंयोगो नो जनयति कस्य लोचनानन्दम्॥
वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा॥
आयाति याति पुनरेव जलं प्रयाति
पद्मांकुराणि विचिनोति धुनोति पक्षौ।
उन्मत्तवद् भ्रमति कूजति मन्दमन्दम्
कान्तावियोगबिधुरो निशि चक्रवाकः॥

कतिपय पंक्तियां दोनों के गद्य को भी देखिये।

"एसा अहं देवदामिहुणम् रोहिणीमि अलञ्छणम् मक्खी कदुअ अज्जउत्तम् प्पसादेमि, अज्जप्पहुदि अज्जउत्तीजम् इत्थिअम् कामेदि जा अ अज्जउत्तस्स समागमप्पणइणी ताएम एपीदिवन्धेण वत्ति दव्वम्।"

बिक्रमोर्वशी

"अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः तस्माच्च प्रियसुहृत् शार्विलकप्रसादेन बन्धनात् बिमुक्तोस्मि।"

मृच्छकटिक

अब बतलाइये कोमल-कान्त-पदावली और सरसता किसमें अधिक है ? उक्त प्राकृत श्लोक का रचयिता कहता है कि 'संस्कृत की रचना परुष और प्राकृत की सुकुमार होती है; पुरुष स्त्री में जो अन्तर है वही अन्तर इन दोनों में है।" परन्तु दोनों भाषाओं की उर्ध्व-लिखित कतिपय पंक्तियों को पढ़ कर आप अभिज्ञ हुए होंगे कि उसके कथन में कितनी

सत्यता है। कोमल-कान्त-पद कौन हैं? वही जिनके उच्चारण में मुख को सुविधा हो और जो श्रुतिकटु न हों। संयुक्ताक्षर और टवर्ग जिस रचना में जितने न्यून होंगे वह रचना उतनी ही कोमल और कान्त होगी और वे जितने अधिक होंगे उतनी ही अधिक वह कर्कश होगी। अब आप देखें शब्द संख्या निर्देश से प्राकृत और संस्कृत के उद्धृत श्लोकों और वाक्यों में से किस में युक्ताक्षर और टवर्ग अधिक हैं। आप प्राकृत श्लोक और वाक्य में ही अधिक पावेंगे, और ऐसी दशा में यह सिद्ध है कि प्राकृत से संस्कृत की ही पदावली कोमल मधुर और कान्त है।

मैं कतिपय प्राकृत वाक्यों को उनके संस्कृत अनुवाद सहित नीचे लिखता हूं, आप इनको भी पढ़ कर देखिये, किसमें कोमलता और मधुरता अधिक है। और प्राकृत एवं संस्कृत के उन शब्दों को विशेष मनोनिवेश-पूर्वक पढ़िये जिन के नीचे लकीर खींची हुई है, और इस बात की मीमांसा कीजिये कि एक दूसरे का रूपान्तर होने पर भी उनमें कौन कान्त है।

अज्जस्स ज्जेव पिअवअस्सेन चुण्ण बुड्ढेण।
आर्य्यस्यैव प्रियवयस्येन चूर्ण वृद्धेन।

आःदासीएपुत्ता चुणबुड्ढा कदाणुक्खु तुम कुविदेणरणा पालयेण णव बहू केस कलावं विअ ससुअन्ध कप्पिजन्तं पेक्खिस्सं।
आः दास्याः पुत्र चूर्ण वृद्ध कदानु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेननववधूकेशकलापमिव ससुगन्‍ छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये।

अम्हारिस जण जोग्गेण बम्हणेण उवनिमन्तिण।
अस्मादृश जन योग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन॥

ह्नादेहं शलिल जलेहिं पाणिएहि उज्जाणेउववण काणणे णिशणे
णालीहिसहजुवदी हिइत्थिआहिगन्धव्बोवि अशुदेहिअङ्ग केहि
स्नातोहं सलिलजलैःपानियैःउद्याने उपवन कानने निषण्णः।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिगन्धर्व इव सुहितैरङ्गकैः।

हत्थशञ्जदो मुहशञ्जदो इन्दियशञ्जदो शेक्खु माणुशे।
कि कलेदि लाअउले तश्श पललोओ हत्थे णिच्चले॥
हस्तसंयतः मुखसंयत इन्द्रियसंयतः सखलु मनुष्यः।
किं करोति राजकुल तस्य परलोको हस्त निश्चलः॥

मृच्छकटिक।

यदि कहा जावे कि संस्कृतश्लोकों और वाक्यों के चुनने में जिस सहृयता से काम लिया गया है, प्राकृत के श्लोकों और वाक्यों के चुनने में वैसा नहीं किया गया, तो पहले तो यह तर्क इस लिये उचित न होगा कि प्राकृत वाक्यों या श्लोकों का ही अनुवाद तो संस्कृत में नीचे दिया गया है। दूसरे मैं इस तर्क के समाधान के लिये कतिपय प्राकृत और संस्कृत के मनोहर श्लोकों और वाक्यों को नीचे लिखता हूं। आप उनको मिलाइये और देखिये कि दोनों की सरसता और कोमलता में कितना अन्तर है।

असारे सार मतिनो सारे चासार दस्सिनो।
ते सारे नाधि गच्छन्ति मिच्छा संकप्पगोचरा॥१॥
अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पामादं परां सन्ति पमादो गरहितो सदा॥२॥
नपुप्फगंधो पटिवातमेति न चन्दन-तग्गर-मल्लिका वा
सतंच गंधो पटिवातमेति सब्बादिसा सप्पुरिसोपवायति॥३॥
उदकं हि नयन्ति नेतिका उसुकारानमयन्ति तेजनं।
दारुनमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पण्डिता॥४॥

मासे मासे सहस्सेनयो यजेथ सतं समम् ।
एकंच भावितत्तान मुहुत्तमपि पूजये ॥५॥

धम्मपद

रणन्त मणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं ।
कलकूकणिद किंकिणी मुहर मेहलाडम्बरं ।
विलोल बल आवलीजणिदमंजुसिंजारवं ।
नकस्समणमोहणं ससिमुहीअहिन्दोलणम् ॥६॥

कर्पूर मंजरी ।

अलिरसौ नलिनीबनवल्लभः कुमुदिनीकुलकेलिकलारसः ।
विधिवशेन विदेशमुपागतः कुटजपुष्परसं बहुमन्यते ॥१॥
के वानसन्तिभुवितामरसावतंसाहंसावलीवलयिनोजलसन्निवेशाः।
किंचातकोफलमवेदयसवज्रपातांपौरन्दरोमुपगतोनववारिधाराम् ।
निर्वाणदीपे किमु तैलदानं चौरे गते वा किमु सावधाम् ।
वयो गते किं वनिताविलासः पयोगते किं खलु सेतुबंधः॥३॥
वरमसिधारा तरुतलवासो वरमिह भिक्षा वरमुपबासः ।
वरमपि घोरे नरके पतनं न च धनगर्वितबान्धवशरणम्॥४॥
विहाररासखेदभेद धीरतीर मारुता
गतागिरामगोचरे यदीयनीरचारुता ।
प्रवाहसाहचर्य्यं पूत मेदिनी नदी नदा
धुनोतु नो मनोमलंकलिन्दनन्दिनी सदा ॥५

काव्यसंग्रह ।

शिलीमुखेस्मिंस्तवनामवांछिते मृगोपनोते मृगशावलोचना ।
प्रमोदमासेयमितो बिलोकिते करे चकोरीव तुषारदीधितेः॥६॥
मनसिजवरबीर वैजयनन्त्यास्त्रिभुवनदुर्लभबिभ्रमंकभूमेः ।
कुचमुकुलबिचित्रपत्रबल्लीपरिचित एष सदा शशिप्रभायाः॥७॥

साहसांकचरित ।

"णम् पहादा रअणीं ता सिग्धम् सअणम् परिच्चआमि ।
अधवा लहु लहु उत्थिदाबि कि कारस्समणमे उद्देसुम पहाद-

करणीये सुमुहृथ्यपादाओऽप्सरन्ति, कामो दाणिम् सकामोभोदु, जेण असच्चसन्धे जणेपिअसहो सुद्धहिअआपदं कारिदा।"

शकुन्तला नाटक।

"सैवाहं कादम्बरीयानेन कुमारेण मत्तमदमुखरमधुकर-कुलकलकोलाहलाकुलिते, कोककामिनीकरुणकूजिते विरहिजनमनोदुःखे, विकचदलारविन्दनिस्यन्दसुगन्धमन्दगन्धवाहानन्दितदशदिशि प्रदोषसमये बिकसितकुसुममामोदमुकुलितमानिनोमानग्रहोन्मोचनहस्ते, कुसुमायुधे।"

कादम्बरी।

यदि इन श्लोकों और गद्य अवतरणों को पढ़ कर यह युक्ति उपस्थित की जावे कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? प्राकृत भाषा की उत्पत्ति का कारण यही है न कि संस्कृत के कठिन शब्दों को सर्व साधारण यथारीति उच्चारण नहीं कर सकते थे, वे उच्चारण सौकर्य्यसाधन और मुख की सुविधा के लिये उसे कुछ कोमल और सरल कर लेते थे क्योंकि मनुष्य का स्वभाव सरलता और सुविधा को प्यार करता है, तो यह सिद्ध है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति ही सरलता और कोमलता-मूलक है। अर्थात् प्राकृत भाषा उसी का नाम है जो संस्कृत के कर्कश शब्दों को कोमल स्वरूप में ग्रहण कर जन-साधारण के सम्मुख यथाकाल उपस्थित हुई है और ऐसी अवस्था में यह निर्विवाद है कि संस्कृत भाषा से प्राकृत कोमल और कान्त होगी। मैं इस युक्ति को सर्वांश में स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं हूं। यह सत्य है कि प्राकृत भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के कर्कश स्वरुप को छोड़ कर कोमल हो गये हैं। किन्तु कितने शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत शब्दों का मुख्य रुप त्याग कर उच्चारण-विभेद से नितान्त कर्णकटु हो गये हैं और

यही शब्द मेरे विचार में प्राकृत वाक्यों को संस्कृत वाक्यों से अधिकांश स्थलों पर कोमल नहीं होने देते ।

निम्नलिखित शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत का कर्कश रुप छोड़ कर प्राकृत में कोमल और कान्त हो गये हैं।

संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
धर्म्म	धम्म	गर्व	गव्व	पुत्र	पुत्त
गन्धर्व्व	गन्धव्व	दर्शिनः	दस्सिनो	अप्रमादेन	अप्पमादेन
प्रशंसन्ति	पसंसन्ति	प्रमादः	पमादो	सर्व	सव्व

किन्तु निम्नलिखित शब्द नितान्त श्रुतिकटु हो गये हैं—

संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
प्रियवयस्येन	पिअवअस्सेण	वृद्धेन	बुड्ढेण
वृद्ध	बुड्ढा	कदानु	कदाण
खलु	क्खु	कुपितेन	कुबिदेण
राज्ञा	रण्णा	पालकेन	पालयेण
नव	णव	मिव	बिअ
जन	जण	योग्येन	जोग्गेण
सलिल	शलिल	पानीयैः	पाणिएहि
उद्याने	उज्जाणे	उपवन	उववण
उपनिमंत्रितेन	उवणिमन्तिदेण	स्नातोहं	ह्वादेह

इन दोनों प्रकार के उद्धृत शब्दों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो गया कि प्राकृत में संस्कृत के यदि अनेक शब्द कर्कश से कोमल हो गये हैं, तो उच्चारण-विभिन्नता जलवायु और समयस्रोत के प्रभाव से बहुत से शब्द कोमल बनने के स्थान पर परम कर्णकटु बन गये हैं। संस्कृत के न, द्ध, व, य, इत्यादि के स्थान पर प्राकृतभाषा में ण,ड,ढ,ब,अ, इत्यादि का प्रयोग उसको बहुत ही श्रुतिकटु कर देता है, और ऐसी अवस्था में जिस युक्ति का उल्लेख किया गया, है वह केवल

एकांश में मानी जा सकती है सर्वांश में नहीं ! और जब यह युक्ति सर्वांश में गृहीत नहीं हुई तो जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन मैं ऊपर से करता आया हूं वही निर्विवाद ज्ञात होता है, और हम को इस बात के स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है कि प्राकृत भाषा से संस्कृत भाषा परुष नहीं है। तथापि राजशेखर जैसा वावदूक विद्वान् उसको प्राकृत से परुष बतलाता है, इसका क्या कारण है ?

मैं समझता हूं इसके निम्न लिखित कारण हैं:—

१—एक संस्कार जो सहस्रों वर्ष तक भारतवर्ष में फैला था, और जो प्राकृत को संस्कृत की जननी और उससे उत्तम बतलाता था।

२—प्राकृत का सर्वसाधारण की भाषा अथवा अधिकांश उसका निकटवर्ती होना।

३- बोलचाल में अधिक आने के कारण प्राकृत का संस्कृत की अपेक्षा बोधगम्य होना।

और इसी लिये मेरा यह विचार है कि पदावली की कान्तता, कोमलता और मधुरता केवल पदावली में ही सन्निहित नहीं है, बरन उसका बहुत कुछ सम्बन्ध संस्कार और हृदय से भी है। सम्भव है कि मेरा यह विचार इन कतिपय पंक्तियों द्वारा स्पष्टतया प्रतिपादित न हुआ हो। इसके अतिरिक्त यह कदापि सर्वसम्मत न होगा कि प्राकृत से संस्कृत परुष नहीं है, अतएव मैं एक दूसरे पथ से अपने इस विचार के पुष्ट करने की चेष्टा करता हूं।

जिस प्राकृत भाषा के विषय में यह सिद्धान्त हो गया था कि

सा मागधी मूलभाषा नरेय आदि कप्पिक।
ब्राह्मणमसूटल्लाप समबुद्धच्चापि भाषरे॥

'पतिसम्बिध अत्थूय,' नामक पाली ग्रन्थ में जिस भाषा के विषय में लिखा गया है कि "यह भाषादेवलोक, नरलोक,

प्रेतलोक और पशु जाति में सर्वत्र ही प्रचलित है किरात अन्धक, योणक, दामिल, प्रभृति भाषा परिवर्तनशील है। किन्तु मागधी आर्य और ब्राह्मणगण की भाषा है, इसलिये अपरिवर्त्तनीय और चिर काल से समानरूपेण व्यवहृत है। मागधी भाषा को सुगम समझ कर बुद्धदेव ने स्वयं पिटक-निचय को सर्वसाधारण के बोधसौकर्य्य के लिये इस भाषा में व्यक्त किया था। "जिस प्राकृत को राजशेखर जैसा असाधारण विद्वान् संस्कृत से कोमल और मधुर होने का प्रशंसापत्र देता है, काल पाकर वह अनादृत क्यों हुई? उसका प्रचार इतना न्यून क्यों हो गया कि उसके ज्ञाताओं की संख्या उँगलियों पर गिनी जाने योग्य हो गई? मधुरता, कोमलता, कान्तता किसको प्यारी नहीं है, सुविधा का आदर कौन नहीं करता, फिर सुविधामूलक मधुर कोमल-कान्त भाषा का व्यवहार क्यों कवियों की रचनाओं आदि में दिन दिन अल्प होता गया? कहा जावेगा कि प्राकृत भाषा की प्रिय-दुहिता परम सरला और मनोहरा हिन्दी भाषा का प्रचार ही इस ह्रास का कारण है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि यह प्रिय दुहिता अपनी जन्मदायिनी से इतनी विरक्त क्यों हो गई कि दिन २ उसके शब्दों को त्याग कर संस्कृत शब्दों को ग्रहण करने लगी, काल पाकर क्यों थोड़े प्राकृत शब्द भी अपने मुख्य रूप में उसमें शेष न रहे, और उस संस्कृत के अनेक शब्द उसमें क्यों भर गये जो कि परुष कही जाती हैं।

उस काल के ग्रन्थों में केवल एक ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' अब हम लोगों को प्राप्त है, अतएव मैं उसी ग्रन्थ के कुछ पद्यों को यहां उद्धृत करता हूं। आप लोग इनको पढ़ कर देखिये कि किस प्रकार उस समय प्राकृतभाषा के शब्दों का व्यवहार न्यून और कैसे संस्कृत के शब्दों का समादर अधिक हो चला था। आज कल प्राकृत भाषा हम लोगों को इतनी अपरिचिता

है कि उसके बहुत से शब्दों का व्यवहार करने के कारण ही, हम लोग अनुराग के साथ 'पृथ्वीराज रासो' को नहीं पढ़ सकते, और उससे घबड़ाते हैं।

श्लोक।

आसामहीव कव्वी नवनव कित्तिय संग्रहं ग्रंथ।
सागरसरिससतरंगी वोहथ्थयं उक्तियं चलयं॥

दोहा।

काव्य समुद कविचन्द कृत युगति समप्पन ज्ञान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान॥
सत्त सहस नष सिष सरस सकल आदि मुनि दिष्य।
घट कढ़ मत कोऊ पढ़ौ मोहि दूसन न बसिष्य॥

चन्द की रचना में तो प्राकृत शब्द मिलते भी हैं, वरन् कहीं कहीं अधिकता से मिलते हैं, किन्तु कहाकवि चन्द के पश्चात् के जितने कवियों की कविता मिलती हैं उनमें प्राकृत-भाषा के शब्दों का व्यवहार बिलकुल नहीं पाया जाता। कारण इसका यह है कि इस समय प्राकृतभाषा का व्यवहार उठ गया था, और हिन्दी का राज्य हो गया था। इस काल की रचना में अधिकांश हिन्दी शब्द ही पाये जाते हैं, हिन्दी शब्द के साथ आते हैं तो संस्कृत के शब्द आते हैं प्राकृत के शब्द बिलकुल नहीं आते। महात्मा तुलसीदास, भक्तवर सूरदास और कविवर केशवदास की रचना में तो कहीं कहीं हिन्दी शब्दों से भी अधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है।

पहले आप इन तीनों महोदयों के प्रथम की रचनाओं को देखिये।

तरवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया।

सर्व सलोना सब गुन नीका। वा बिन सब जग लागे फीका ॥
वाके सिर पर होवे कोन। ए सखि साजन ? ना सखि लोन ॥
सिगरी रैन मोहि सँग जागा। भोर भया तो बिछुरन लागा ॥
वा के बिछुरत फाटत हीया। ए सखि साजन ? ना सखि दीया ॥

अमीर खुसरो।

क्या पढ़िये क्या गुनियै। क्या वेद पुराना सुनियै ॥
पढ़े सुने क्या होई। जो सहज न मिलियो सोई ॥
हरि का नाम न जपसि गंवरा। क्या सोचै बारम्बारा ॥
अंधियारो दीपक चहियै। इक वस्तु अगोचर लहियै ॥
वस्तु अगोचर पाई। घट दीपक रह्यो समाई ॥
कह कबीर अब जान। जब जाना तो मन माना ॥
हृदय कपट मुख ज्ञानी। झूठे कहा विलोबसि पानी ॥
काया मांजसि कौन गुणा। जो घटभीतर है मलना ॥
लौकी अठ सठ तीरथ न्हाई। कौरापन तऊ न जाई ॥
कह कबीर बीचारी। भवसागर तार मुरारी ॥

कबीर साहब।

नागमती चितौर पथ हेरा। पिउ जो गये फिर कीन न फेरा ॥
सुआ काल हवै लैगा पीऊ। पीउ न जात जात बरु जीऊ ॥
भयो नरायन बावन करा। राज करत राजा बलि छुरा ॥
करन बान लीनो कै छंदू। भरथहि भो झल मला अनंदू ॥
लैकंतहिं भागरु अलोपी। बिरह वियोग जियहिं किमि गोपी ॥
का सिर बरनों दिपइ मयंकू। चांद कलंकी वह निकलंकू ॥
तेहि लिलार पर तिलकू बईठा। दुइज पास मानों ध्रुव डीठा ॥

मलिक मुहम्मद जाईसी।

अब आप उक्त तीनों महोदयों की रचनाओं को देखिये। इन में संस्कृत शब्दों की कितनी प्रचुरता है।

जमुनाजल बिहरन्ति ब्रजनारी।
तट ठाढ़े देख नँदनन्दन मधुरमुरलि कर धारी ॥
मोर मुकुट श्रवनन मणि कुण्डल जलजमाल उर भ्राजत ॥

सुन्दर सुभग श्याम तन नव घन बिच बगपांति बिराजत ॥
उर बनमाल सुभग बहु भांतिन सेत लाल सित पीत ।
मनों सूरसरि तट बैठे शुक बरन बरन तजि भीत ।
पीतांबर कटि मैं छुद्रावलि बाजत परम रसाल ।
सूरदास मनो कनकभूमि ढिग बोलत रुचिर मराल ॥

भक्तवर सूरदास

सहज मनोहर मूरति दोऊ । कोटि काम उपमा लघु सोऊ ॥
सरद चंद निंदक मुख नीके नीरज नयन भावते जीके ॥
चितवन चारु मारमद हरनो । भावत हृदय जात नहिं बरनो ॥
कलकपोल श्रुति कुण्डल लोला । चिबुक अधर सुन्दर मृदुबोला ।
कुमुद-बंधु कर निन्दक हांसा । भृकुटी बिकट मनोहर नासा ॥
भाल बिशाल तिलक झलकाहीं। कचविलोकि अलिअवलिलजाहीं।
रेखा रुचिर कम्बु कल ग्रीवा । जनु त्रिभुवन सोभा की सींवा॥

महात्मा तुलसीदास

हरि कर मंडन सकल दुख खंडन मुकुर महि मंडल को कहत अखण्ड मति । परम सुबास पुनि पीयुख निवास परिपूरन प्रकास केसोदास भू अकाश गति ॥ बदन मदन कैसी श्रीजू को सदन जहँ सोदर सुभोदर दिनेस जू को मीत अति । सीता जू के मुख सुखमा की उपमा को कहि कोमल न कमल अमल न रजनिपति ॥

कविवर केशवदास,

यदि अभिनिविष्ट चित्त से इस विषय में विचार किया जावे तो स्पष्टतया यह बात हृदयङ्गम होगी, कि संस्कृत शब्दों के समादर और प्राकृत शब्दों में अप्रीति का मुख्य कारण बौद्धधर्म्म को पराजित कर पुनः वैदिकधर्म्म का प्रतिष्ठालाभ करना है जिसने संस्कृत की ममता पुनः जागरित कर दी । जब वैदिक धर्म्म के साथ साथ संस्कृत भाषा का फिर आदर हुआ, तब यह असंभव था कि प्राकृत शब्दों के स्थान पर

फिर संस्कृत शब्दों से अनुराग न प्रकट किया जाता। सर्व-साधारण की बोल-चाल की भाषा का त्याग असंभव था, किन्तु यह संभव था कि उसमें उपयुक्त संस्कृत शब्द ग्रहण कर लिये जावें। निदान उस काल और उसके परवर्त्ती काल के कवियों की रचना मैंने जो ऊपर उदधृत की हैं उनमें आप यही बातें पावेंगे।

प्राकृत, कोमल, कान्त और मधुर होकर भी क्यों त्यक्त हुई? इस लिये कि सर्वसाधारण का संस्कार और हृदय उसके अनुकूल न रहा, इस लिये कि वह बोलचाल की भाषा से दूर जा पड़ी और बोधगम्य न रही। संस्कृत के शब्द बोल-चाल की भाषा से और भी दूर पड़ गये थे और वह भी बोध-गम्य नहीं थे, किन्तु धार्मिक संस्कारने उसके साथ सहानुभूति की और इस सहानुभूति जनित-हृदय-ममता ने उसको पुनः समादर का पान दिया। एक बात और है, मुख-सुविधा और श्रवण-सुखदता मानसिक श्रम के सम्मुख आदृत और वांछ-नीय नहीं होती, और कान्तता एवं कोमलता धार्मिक किंवा जाति-भाषा-मूलक-संस्कार और तज्जनित-हृदय-ममता के सामने स्थान और सम्मान नहीं पाती। मुख और श्रवन मन के अनुचर हैं। जिस कविता के पठन करने में मुख को सुविधा हुई, सुनने में कान को आनन्द हुआ, किन्तु समझने में मन को श्रम करना पड़ा, तो वह कविता अवश्य उद्वेगकर होगी, और यदि अपार श्रम करके भी मन उसको न समझ सका तो उसकी कान्तता और कोमलता उसकी दृष्टि में कठोरता, दुरूहता और जटिलता की मूर्त्ति छोड़ और क्या होगी? इसके विप-रीत वह यदि लिखने पढ़ने किंवा बोलचाल की भाषा की निकटवर्त्तिनी हो मन के श्रम का आधार न हो और उसमें मुख-सुविधा-कारक अथच श्रवणसुखद-शब्द पर्याप्त न भी

पाये जावें तो भी वह कविता आदृत और गृहीत होगी और उसके श्रवणकटु एवं मुख-असुविधा-कारक शब्द कोमल और कान्त बन जावेंगे क्योंकि सुविधा ही प्रधान है।

जब इस व्यापार में धार्मिक किंवा जातिभाषा-मूलक संस्कार भी आकर सम्मिलित हो जाता है तब इसका रंग और गहरा हो जाता है। ब्रजभाषा ऐसी मधुर भाषा दूसरी नहीं मानी जाती, किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि फ़ारसी के समान मधुर भाषा संसार में दूसरी नहीं है। इस भाषा का प्रसिद्ध विद्वान् और कवि अलीहजो जब हिन्दुस्तान में आया, तो उसको बृजभाषा के माधुर्य्य की प्रशंसा सुन कर कुछ स्पर्द्धा हुई। वह ब्रजप्रान्त में इस कथन की सत्यता की परीक्षा के लिये गया। मार्ग में उसको एक ग्वालिन जल ले जाते हुए मिली जिसके पीछे पीछे एक छोटी कोमला बालिका यह कहती हुई दौड़ रही थी, 'मायरे माय महि सांकरी पगन मैं कांकरी गड़तु हैं।' इस बालिका का कथन सुन कर वे चक्कर में आ गये और सोचा कि जहां की गंवार बालिकाओं का ऐसा सरस भाषण है, वहां के कवियों की बाणी का क्या कहना! परन्तु उनके सहधर्मियों ने इसी परम लावण्यवती, कोमला, अथच मनोहर बृजभाषा का क्या समादर किया, उन्होंने चुन चुन कर इसके शब्दों को अपनी कविता में से निकाल बाहर किया, और उनके स्थान पर फ़ारसी अरबी के अकोमल और श्रुति-कटु शब्दों को भर दिया।

सबसे पहले मुसल्मान कवि जिन्होंने हिन्दी भाषा में कविता करनेके लिये लेखनी उठाई, अमीरखुसरो थे। यह कवि तेरहवें शतक में हुआ है। इसकी कविता का रंग देखिये:—

ख़ालिकबारी सिरजनहार। वाहिद एक बेदां करतार।
रसूल पयम्बर जान बसीठ। यार दोस्त बोलो जा ईठ॥

जेहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल। दुराय नैना बनाय बतियां।
किताबे हिजरां न दारम् ऐजां। न लेहु काहे लगाय छतियां।

दक्षिण का सादी नामक एक आदिम उर्दू कवि बतलाया आता है। उसकी कविता का नमूना यह हैः—

हम तुम्हन को दिल दिया, तुम दिल लिया औ दुख दिया।
हम बह किया तुम वह किया, ऐसी भली यह पीत है॥

वली भी उर्दू का आदिम कवि है, उसकी कविता को भी उदाहरण अवलोकन कीजिये।

दिल वली का लैलियां दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सों।

इन दोनों के उपरान्त ही शाह मुबारक का समय है, उसकी कविता का ढंग यह हैः—

मत कह्न सेतीं हाथ में ले दिल हमारे को।
जलता है क्यों पकड़ता है जालिम अंगारे को।

ऊपर की कविताओं से प्रगट है कि पहले मुसलमान कवियों ने जो रचना की है उसमें या तो हिन्दी पदों और शब्दों को बिलकुल फारसी पदों या शब्दों से अलग रखा है, या फारसी या अरबी शब्दों को मिलाया है तो बहुत ही कम अधिकांश हिन्दी शब्दों से ही काम लिया है किन्तु आगे चल कर समय ने पलटा खाया, और निम्न लिखित प्रकार की कविता होने लगीः—

नूर पैदा है जमाले यार के साया तले।
गुल है शरमिन्दा रुखे दिलदार के साया तले॥
नासिख।

आफ़ताबे हश्र है या रब कि निकला गर्म गर्म।
कोई आंसू दिलजलों के दीदये गमनाक से॥
न क्योंह गोर प मस्तों के हो न हो तावोज।
जो हो तो खिश्ते खुमे मै कोई निशां के लिये॥
जौक।

ख़मोशी में निहाँ खू ंगश्ता लाखों आरज़ूयें हैं ।
चिराग़े मुर्दा हूं मैं बेज़बाँ गोरे ग़रीबाँ का ॥
नक़श नाज़े बुतेतन्नाज़ ब आग़ोश रक़ाब ।
पायताऊस पये जामये मानी मांगे ॥
यह तूफ़ांगाह जोशेइज़्तिरा बे शाम तनहाई ।
शोआये आफ़तावे सुब्हम हशरतारे बिस्तर है ॥
लबे ईसा की ज़ुंबिश करती है गहवारा ज़ुबानी ।
क़यामत कुश्तये लाले बूतां का ख़्वाबेसंगी है ॥

ग़ालिब ।

अब प्रश्न यह है कि वह कौन सी बात है कि जिसके कारण ब्रजभाषा का, कि जिसके माधुर्य्य पर अलीहज़ी ऐसा उदारहृदय पारसी कवि लोट पोट हो गया था, पीछे मुसलमान कवियों द्वारा तिरस्कार हुआ। क्यों उन्होंने उसके कोमल कान्त पदों के स्थान पर फ़ारसी और अरबी के श्रुतिकटु शब्दों का व्यवहार करना उचित समझा ? क्यों उन्होंने ब्रजभाषा के सुविधापूर्वक उच्चारित होनेवाले ग, ख, ज, फ, इत्यादि अक्षरों से निर्मित शब्दों के स्थान पर ग़ैन ख़े ज़े फ़े इत्यादि श्रुतिकंठ-विदीर्णकारी अक्षरों से मिलित शब्दों का आदर किया ? इसका उत्तर इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, कि अरबी और फ़ारसी भाषा में उसके अक्षरों और शब्दों में, उनके धार्मिक और जातिभाषामूलक संस्कारही ने उन्हें उनसे आदत बनाया, इनमें जो उनकी हृदयममता है उसीने उन्हें इनको अंगीकृत करने के लिये बाध्य किया।

जो कुछ अब तक कहा गया, उससे यह बात भली प्रकार सिद्ध हो गई कि किसी पदावली की कोमलता, कान्तता, मधुरता का बहुत कुछ सम्बन्ध, संस्कार और हृदय से है। इस अवसर पर यह कहा जा सकता है कि कोमलता, कान्तता इत्यादि का सम्बन्ध हृदय या संस्कार से नहीं है, वास्तव

में उसका सम्बन्ध पदावली से ही है। हां, उसके आदृत या अनादृत होने का सम्बन्ध निस्सन्देह संस्कार और हृदय से है क्योंकि यदि दो बालक ऐसे उपस्थित किये जावें कि जिनमें एक सुन्दर हो और दूसरा असुन्दर, तो निज अपत्य होने के कारण असुन्दर बालक में पिता की हृदयममता हो सकती है, उसका स्वाभाविक संस्कार उसे निजपुत्र को आदर और सम्मान-दृष्टि से देखने के लिये बाध्य कर सकता है, किन्तु इससे वह सुन्दर नहीं होजावेगा, सुन्दर बालक को ही सुन्दर कहा जावेगा। इसी प्रकार किसी अकान्त और अकोमल पद को किसीका संस्कार और हृदयभाव कान्त और कोमल नहीं बना सकता, क्योंकि न्यायदृष्टि कोमल और कांत को ही कोमल और कांत कह सकती है। जब सबको अपना ही अपत्य सुन्दर ज्ञात होता है तो इससे यह सिद्ध है कि उसको दूसरे के अपत्य के सौन्दर्य्य की अनुभूति नहीं होती, और जब अनुभूति नहीं होती, तो उसकी दृष्टि में उसका सौन्दर्य्य ही क्या ? इसी प्रकार जब किसी पदावली की कान्तता, मधुरता, और कोमलता की अनुभूति ही नहीं होती, तो उसके कान्तता, मधुरता, कोमलता ही क्या ? वास्तव में बात यह है कि ऐसे स्थानों पर संस्कार और हृदय ही प्रधान होता है।

पीयूषवर्षी कवि विहारीलाल के निम्नलिखित दोहे कितने सुन्दर और मनोहर हैं :—

गड़े बड़े छबि छाक छकि छिगुनी छोर छुटैन।
रहे सुरंग रँग रँगा वही, नहँदो महँदी नैन॥
सतर भौंह रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि।
कहा कहीं ह्वै जात हरि हेरि हँसौंहो डीठि॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै,देन कहै, नटि जाय॥

यक भींगे चहले परे, बूड़े बहे हजार ।
किते न औगुन जग करे, नै बै चढ़ती बार ॥

परन्तु आधुनिक पाठशालाओं के विद्यार्थियों और वर्त्तमान खड़ी बोली के अनुरागियों के समाने इनको रखिये देखिये वह इनका कितना आदर करते हैं। मैंने देखा है कि आज कल के खड़ी बोली के रसिक ब्रजभाषा की कविता से उतना ही घबड़ाते हैं, जितना कि वह किसी अपरिचित किंवा अल्प परिचित भाषा की कविता से घबड़ा सकते हैं। कारण इसका क्या है? कारण इसका यही है, कि लिखने पढ़ने और बोल-चाल की भाषा से वह दूर पड़ गई है। इन दोहाओं का माधुर्य्य, लालित्य और कोमलता अथच कान्तता निर्विवाद है; किन्तु जब वह इनको समझते ही नहीं, यदि समझने की चेष्टा करते हैं, तो मन को विशेष श्रम करना पड़ता है, फिर उनकी दृष्टि में इनकी कोमलता और कान्तता ही क्या? किन्तु यदि इन दोहों के स्थान पर कोई संस्कृतगर्भित खड़ी बोली की कविता रख दीजिये, तो देखिये वह उसको पढ़ कर कितना मुग्ध होते हैं, और कितना आनन्दानुभव करते हैं, अतएव उनको उसीमें कोमलता और कान्तता दृष्टिगत होती है। और यही कारण है कि आजकल संस्कार और हृदयममता दोनों खड़ी बोली की ओर आकर्षित हो गई हैं, कि जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण खड़ी बोली की कविता का समधिक प्रचार है।

जिन प्राचीन विद्वान् सज्जनों का संस्कार ब्रजभाषा के माधुर्य्य और कान्तता के विषय में दृढ़ हो गया है, और इस कारण उसकी ममता उनके हृदय में बद्धमूल है, वे यदि कहें कि खड़ी बोली की कविता कर्कश होती है, तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या? ऐसे ही जिन्होंने ब्रजभाषा का अभूतपूर्व रस आस्वादन नहीं किया है, जो ब्रजभाषा की रचना में दुर्बोधता

उपलब्ध करते हैं वे यदि खड़ी बोली का समादर और प्यार करें और उसे ही कान्त और कोमल समझें तो इसमें भी कोई आश्चर्य्य नहीं. सदा ऐसा ही होता आया है, और आगे भी ऐसा ही होगा। अब मुझे केवल इतना ही कहना है कि समय का प्रवाह खड़ी बोली के अनुकूल है, इस समय खड़ी बोली में कविता करने से अधिक उपकार की आशा है, अतएव मैंने भी 'प्रियप्रवास' को खड़ी बोली में ही लिखा है। संभव है कि उसमें अपेक्षित कोमलता और कान्तता न हो, परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं हो सकता कि खड़ी बोली में सुन्दर कविता हो ही नहीं सकती। वास्तव बात यह है कि यदि उसमें कान्तता और मधुरता नहीं आई है, तो यह मेरी विद्या, बुद्धि और प्रतिभा का दोष है, खड़ी बोली का नहीं।

ग्रन्थ का विषय

इस ग्रन्थ का विषय श्रीकृष्णचन्द्र की मथुरायात्रा है, और इसीसे इसका नाम प्रियप्रवास रखा गया है। कथासूत्र से मथुरायात्रा के अतिरिक्त उनकी और ब्रजलीलायें भी यथास्थान इसमें लिखी गई हैं। जिस विषय के लिखने के लिये महर्षि व्यासदेव, कविशिरोमणि सूरदास, और भाषा के अपर मान्य कवियों और विद्वानों ने लेखनी की परिचालना की है, उसके लिये मेरे जैसे मंदधी का लेखनी उठाना नितान्त मूढ़ता है। परन्तु जैसे रघुवंश लिखने के लिये लेखनी उठा कर कविकुलगुरु कालिदास ने कहा था, "मणौवज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः।" उसी प्रकार इस अवसर पर मैं भी स्वच्छ हृदय से यही कहूंगा "अति अपार जे सरित वर, जो नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिका परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं॥" रहा यह कि वास्तव में मैं पार जा सका हूं या बीच ही में रह गया हूं किंवा उस पावन सेतु पर चलने का साहस करके निन्दित बना हूं इसकी मीमांसा बिबुध जन करें। मेरा

विचार तो यह है कि मैंने इस मार्ग में भी अनुचित दुस्साहस किया है, अतएव तिरस्कृत और कलंकित होने की ही आशा है। हां, यदि मर्म्मज्ञ विद्वज्जन इसको उदार दृष्टि से पढ़ कर उचित संशोधन करेंगे. तो आशा है कि किसी समय में इस ग्रन्थ का विषय भी रसिकों के लिये आनन्दकारक होगा।

हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते हैं उनका चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है तो हम उसकी प्रति पंक्ति में या न्यून से न्यून उसके प्रति पृष्ठ में ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते हैं, जिसमें उसके ब्रह्मत्व का निरुपण हो। जो सज्जन इस विचार के हों, वे मेरे प्रेमाम्बुप्रश्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह, और प्रेमाम्बुवारिधि, नामक ग्रन्थों को देखें, उनके लिये यह ग्रन्थ नहीं रचा गया है। मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भांति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ मैं श्री मद्भगवद्गीता का यह श्लोक मानता हूं 'यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंशसंभवम्' अतएव जो महापुरुष है, उसका अवतार होना निश्चित है। मैंने भगवान श्रीकृष्ण का जो चरित अंकित किया है, उस चरित का अनुधावन करके आप स्वयं विचार करें कि वे क्या थे, मैंने यदि लिख कर आपको बतलाया कि वे ब्रह्म थे, और तब आपने उनको पहचाना तो क्या बात रही! आधुनिक विचारों के लोगों को यह प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति पंक्ति में तो भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें, और चरित्र लिखने के समय 'कर्तु मकर्तु मन्यथा कर्तुं समर्थः प्रभुः' के रंग में रँग कर ऐसे कार्य्यों का कर्त्ता उन्हें बनावें, कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे। संभव है कि मेरा यह विचार समीचीन न समझा जावे,

परन्तु मैंने उसी विचार को सम्मुख रख कर इस ग्रन्थ को लिखा है, और कृष्णचरित को इस प्रकार अंकित किया है, जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो सकें। आशा है कि आप लोग दयार्द्र हृदय से मेरे उद्देश्य के समझने की चेष्टा करेंगे और मुझको वृथा वाग्वाण का लक्ष्य न बनावेंगे।

वर्णन शैली

रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है! कोई संक्षेप वर्णन को प्यार करता है कोई विस्तृत वर्णन को। किसी को कालिदास की प्रणाली प्रिय है, किसीको भवभूति की। संक्षेप वर्णन से जो हृदय पर क्षणिक गहरा प्रभाव पड़ता है कोई उसको आदर देता है, कोई उस विस्तृत वर्णन से मुग्ध होता है, जिसमें कि पूरी तौर पर रस का परिपाक हुआ हो। निदान किसी ग्रन्थ की वर्णनशैली का प्रभाव किसी मनुष्य पर उसकी रुचि के अनुसार पड़ता है। जो विस्तृत वर्णन को नहीं प्यार करता वह अवश्य किसी ग्रन्थ के विस्तृत वर्णन को पढ़ कर ऊब जावेगा, इसी प्रकार जिसको किसी रस का संक्षेप वर्णन प्रिय नहीं, वह अवश्य एक ग्रन्थ के संक्षेप वर्णन को पढ़ कर अतृप्त रह जावेगा। और यही कारण है कि प्रतिष्ठित ग्रन्थकारों की समालोचनायें भी नाना रूप में होती हैं। मैंने अपने ग्रन्थ में वर्णन के विषय में मध्यपथ ग्रहण किया है, किन्तु इस दशा में भी संभव है कि किसी सज्जन को कोई प्रसंग संक्षेप में वर्णन किया जान पड़े और किसीको कोई कथा भाग अनुचित विस्तार से लिखा गया ज्ञात हो। मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूंगा यदि ग्रन्थ के सहृदय पाठकगण इस विषय में मुझे समुचित सम्मति देंगे; जिसमें कि दूसरी आवृत्ति में मैं अपने वर्णनों पर उचित मीमांसा कर सकूं।

कवितागत कतिपय शब्द

अब मैं इस ग्रन्थ की कविता में व्यवहृत किये गये कुछ शब्दों के विषय में विचार करना चाहता हूं। सब भाषाओं में गद्य की भाषा से पद्य की भाषा में कुछ अन्तर होता है, कारण यह है कि छन्द के नियम में बँध जाने से ऐसी अवस्था प्रायः उपस्थित हो जाती है, कि जब उसमें शब्दों को तोड़ मरोड़ कर रखना पड़ता है, या उसमें कुछ ऐसे शब्द सुबिधा के लिये रख देने पड़ते हैं, जो गद्य में व्यवहृत नहीं होते। यह हो सकता है कि जो शब्द तोड़ या मरोड़ कर रखना पड़े वह या गद्य में अव्यवहृत शब्द कविता में से निकाल दिया जावे परन्तु ऐसा करने में बड़ी भारी कठिनता का सामना करना पड़ता है, और कभी कभी तो यह दशा हो जाती है कि ऐसे शब्दों के स्थान पर दश शब्द रखने से भी काम नहीं चलता; इस लिये कवि उन शब्दों को कविता में रखने के लिये बाध्य होता है। कभी कभी ऐसा होता है कि उन शब्दों के पर्य्यायवाची दूसरे शब्द उसी भाषा में मौजूद होते हैं, और यदि वे शब्द उन शब्दों के स्थान पर रख दिये जावें तो किसी शब्द को विकलांग बना कर या गद्य में अव्यवहृत शब्द रखने के दोष से कवि मुक्त हो सकता है, परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी कवि को समय पर वे शब्द स्मरण नहीं आते, और वह विकलांग अथवा गद्य में अव्यवहृत शब्द रख कर ही काम चलाता है। और यही कारण है कि गद्य की भाषा से पद्य की भाषा में कुछ अन्तर होता है। कविकर्म बहुत ही दुरूह है। जब कवि किसी कविता का एक चरण निर्माण करने में तन्मय होता है, तो उस समय उसको बहुत ही दुर्गम और संकीर्ण मार्ग में हो कर चलना पड़ता है। प्रथम तो छन्द की गिनी हुई मात्रा अथवा गिने हुए वर्ण उसका हाथ पांव बांध देते हैं, उसकी क्या मजाल की वह उसमें से एक

मात्रा घटा या बढ़ा देवे, अथवा एक गुरू को लघु के स्थान पर या एक गुरू के स्थान पर एक लघु को रख देवे। यदि वह ऐसा करे तो वह छंदरचना का अधिकारी नहीं। जो इस विषय में सतर्क होकर वह आगे बढ़ा, तो हृदय के भावों और विचारों को उतनी ही मात्रा वा उतने ही वर्णों में प्रगट करने का झगड़ा सामने आया, इस समय जो उलझन पड़ती है, उसको कविहृदय ही जानता है। यदि विचार नियत मात्रा अथवा वर्णों में स्पष्टतया न प्रगट हुआ, तो उसको यह दोष लगा कि उसका वाच्यार्थ साफ नहीं, यदि कोमल वर्णों में वह स्फुरित न हुआ, तो कविता श्रुतिकटु हो गई। यदि उसमें कोई घृणा व्यञ्जक शब्द आ गया तो अश्लीलता की उपाधि शिर चढ़ी, यदि शब्द तोड़े मरोड़े गये तो च्युत दोष ने गला दबाया, यदि उपयुक्त शब्द न मिले तो सौ सौ पलटा खाने पर भी एक चरण का निर्माण दुस्तर हो गया, यदि शब्द यथास्थान न पड़े तो दूरान्वय दोष ने आँखें दिखायीं। कहां तक कहें, ऐसी कितनी बातें हैं, जो कविता रचने के समय कवि को उद्विग्न और चिन्तित करती हैं, और यही कारण है कि प्रसिद्ध बहारदानिश ग्रन्थ के रचयिता ने बड़ी सहृदयता से एक स्थान पर यह शेर लिखा है—

बराय पाकिये लफ्ज़े शबे बरोज़ आरन्द।
कि मुर्ग़ माही बाशन्द खुफ्ता ऊबेदार॥

इसका अर्थ यह है कि कबि एक शब्द को परिष्कृत करने के लिये उस रात्री जो जाग कर दिन में परिणत करता है, कि जिसको चिड़ियो और मछलियाँ तक निद्रादेवी के शान्ति-मय अङ्क में शिर रख कर व्यतीत करती हैं।" यदि कवि-कर्म्म इतना कठोर न होता तो कवि-कुलगुरु-कालिदास जैसे असाधारण विद्वान और विद्या-बुद्धि-निधान, 'त्रयम्बकम्

संयमिनं ददर्श' इस श्लोकखण्ड में 'त्र्यम्बकम्' के स्थान पर 'त्रयम्बकम्' न लिख जाते, जो कि त्र्यम्बकम्' का अशुद्ध-रूप है। यदि इस त्रयम्बकम् के स्थान पर वह त्रिलोचनम् लिखते तो कविता सर्वथा निर्दोष होती किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया जिससे यह सिद्ध होता है, कि कविता करने के समय बहुत चेष्टा करने पर भी उनको यह शुद्ध और कोमल शब्द स्मरण नहीं आया, और इसीसे उन्होंने एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जो च्युत-दोष से दूषित है। किसी किसीने लिखा है कि उस काल में एक ऐसा व्याकरण प्रचलित था कि जिसके अनुसार त्रयम्बकम् शब्द भी अशुद्ध नहीं है, किन्तु यह कथन ऐसे लोगों का उस समय तक मान्य नहीं है, जब तक कि वह व्याकरण का नाम बतला कर उस सूत्र को भी न बतलादें कि जिसके द्वारा यह प्रयोग भी शुद्ध सिद्ध हो। इस विचार के लोग यह समझते हैं कि यदि कवि-कुल-गुरु-कालिदास का रचना में कोई अशुद्धि मान ली गई, तो फिर उनकी विद्वत्ता सर्वमान्य कैसे होगी। उनकी वह प्रतिष्ठा जो संसार की दृष्टि में एक चकितकर वस्तु है, कैसे रहेगी। अतएव येनकेन प्रकारेण वे लोग एक साधारण दोष को छिपाने के लिये एक बहुत बड़ा अपराध करते हैं, जिसको विबुध-समाज नितान्त-गर्हित समझता है।

इस विचार के लोग भाव-राज्य के उस मनोमुग्धकर-उपवन पर दृष्टि नहीं डालते, कि जिसके अंक में सदाशय और सद्विचार रूपी हृदय-विमोहक प्रफुल्ल-प्रसूनों के निकट वर्त्ती दो चार दोषकण्टकों पर कोई दृष्टिपात ही नहीं करता। कवि किसी भाषाहीन शब्द को यथाशक्ति तो रखता नहीं, जब रखता है तो विवश होकर रखता है। जिसकी रचना अधिकांश सुन्दर है, जिसके भाव लोक-विमुग्धकर और उपकारक हैं, उसकी रचना में यदि कहीं कोई दोष आ जावे

तो उसपर कौन सहृदय दृष्टिपात करता है, और यदि दृष्टि-पात करता है तो वह सहृदय नहीं।

"जड़ चेतन गुन दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।"

संसार में निर्दोष कौन वस्तु है? सभी में कुछ न कुछ दोष है, जो शरीर बड़ा प्यारा है, उसीको देखिये उसमें कितना मल है। चन्द्रमा में कलंक है, सूर्य्य में धब्बे हैं, फूल में कीड़े हैं, तो क्या ये संसार की आदरणीय-वस्तुओं में नहीं हैं? वरन् जितना इन का आदर है अन्य का नहीं है। कवि कर्म्म-कुशल-कालिदास की रचना इतनी अपूर्व और प्यारी है, इतनी सरस और सुन्दर है, इतनी उपदेशमय और उपकारक है, कि उसमें यदि एक दोष नहीं सैकड़ों दोष होवें, तो भी वे स्निग्ध-पत्रावली-परि-शोभित मनोरम-पुष्प-फल-भार-विनम्र, पादक के, दस पांच नीरस, मलीन, विकृत पत्तों समान दृष्टि डालने योग्य न होंगे। फिर उन दोषों के विषय में बात बनाने से क्या लाभ? मैं यह कह रहा था कि कवि-कर्म्म नितान्त दुरूह है। अलौकिक-प्रतिभाशाली कालिदास जैसे जगन्मान्य कवि भी इस दुरूहता-वारिधि-सन्तरण में कभी कभी क्षमा नहीं होते। जिनका पदानुसरण करके लोग साहित्यपथ में पांव रखना सीखते हैं उन हमारे संस्कृत और हिन्दी के धुरन्धर और मान्य साहित्याचार्य्यों की मति भी इस संकीर्ण स्थल पर कभी कभी कुण्ठित होती है और जब ऐसों की यह गति है तो साधारण कवियों की कौन कहे? मैं कवि कहलाने योग्य नहीं, टूटी फूटी कविता करके कोई कवि नहीं हो सकता, फिर यदि मुझसे भ्रम प्रमाद हो, यदि मेरी कविता में अनेक दोष होवें तो क्या आश्चर्य्य! अतएव आगे जो मैं लिखूंगा, उसके लिखने का यह प्रयोजन नहीं है, कि मैं रूपान्तर से अपने दोषों को

छिपाना चाहता हूं—प्रत्युत उसके लिखने का उद्देश्य कतिपय शब्दों के प्रयोग पर प्रकाश डालना मात्र है।

कतिपय क्रिया।

हिन्दी गद्य में देखने के अर्थ में अधिकांश देखना धातु के रूपों का ही व्यवहार होता है, कोई कोई कभी अवलोकना, विलोकना, दरसना, जोहना, लखना धातु के रूपों का भी प्रयोग करते हैं, किन्तु इसी अर्थ के द्योतक निरखना और निहारना धातु के रूपों का व्यवहार बिलकुल नहीं होता। अतएव इन कतिपय क्रियाओं के रूपों का व्यवहार कोई २ खड़ी बोली के पद्य में करना उत्तम नहीं समझते, किन्तु मेरा विचार है कि इन कतिपय क्रियाओं से भी यदि खड़ी बोली के पद्यों में संकीर्ण स्थलों पर काम लिया जावे तो उसके विस्तार और रचना में सुविधा होगी। मैं ऊपर दिखला चुका हूं कि गद्य की भाषा से पद्य की भाषा में कुछ अन्तर होता है, अतएव इनको ब्रजभाषा की क्रिया समझ कर तज देना मुझे उचित नहीं जान पड़ता, और इसी विचार से मैंने अपनी कविता में देखने के अर्थ में इन क्रियाओं के रूपों का व्यवहार भी उचित स्थान पर किया है। ऐसे ही कुछ और क्रियायें हैं जो ब्रजभाषा की कविता में तो निस्सन्देह व्यवहृत होती हैं, परन्तु खड़ी बोली के गद्य में इनका व्यवहार सर्वथा नहीं होता, या यदि होता है तो बहुत न्यून। किन्तु मैंने अपनी कविता में इनको भी निस्संकोच स्थान दिया है। मेरा विचार है कि इन क्रियाओं के व्यवहार से खड़ी बोली का पद्यभाण्डार सुसम्पन्न और ललित होने के स्थान पर क्षतिग्रस्त और असुन्दर न होगा। ये क्रियायें लसना, बिलसना, रचना, विराजना, सोहना, बगरना, बलजाना, निवसना, बितरना, गहना, निदरना, तजना, भाखना, इत्यादि हैं। आधुनिक खड़ी बोली के कविता-लेखकों में से यद्यपि कईएक अपर सज्जनों को भी

इनको काम में लाते देखा जाता है, किन्तु इन लोगों में अधिकांश वे सज्जन हैं, जो ब्रजभाषा से कुछ परिचित हैं। जिन्होंने ब्रजभाषा का कोमल-कान्त-बदन बिल्कुल नहीं देखा, उनकी कविता में इन क्रियाओं का प्रयोग कथञ्चित होता है। मैं अपने कथन की पुष्टि गद्य के अवतरणों और आधुनिक वर्त्तमान कवियों की कविताओं का अपेक्षित अंश उठा कर कर सकता हूं—किन्तु ऐसा करने में यह लेख बहुत विस्तृत हो जावेगा।

कुछ वर्णों का हलन्त प्रयोग।

हिन्दी भाषा के कतिपय सुप्रसिद्ध गद्य-पद्यलेखकों को देखा जाता है कि ये इसका, उसका, इत्यादि को इस्का, उस्का इत्यादि और करना, धरना, इत्यादि को कर्ना, धर्ना, इत्यादि लिखने के अनुरागी हैं। पद्य में ही संकीर्ण स्थलों पर वे ऐसा नहीं करते, गद्य में भी इसी प्रकार इन शब्दों का व्यवहार वे उचित समझते हैं। खड़ी बोली की कविता के लब्धप्रतिष्ठ प्रधान लेखक श्रीयुत पण्डित श्रीधर पाठक लिखित नीचे की कतिपय गद्य-पद्य की पंक्तियों को देखिये :—

"यह एक प्रेम-कहानी आज आपको भेंट की जाती है—निसन्देह इस्में ऐसा तो कुछ भी नहीं जिस्से यह आपको एकही बार में अपना सके।"

"नम्रभाव से कीनी उस्ने बिनय समेत प्रणाम"
"चला साथ योगी के हर्षित जंह उस्का विश्राम"
"नहीं बड़ा भण्डार मढ़ी में कीजै जिस्की रखवाली"
"दोनों जीव पधारे भीतर जिन्के चरित अमोल"

एकांत वासी योगी

हमारे उत्साही-नवयुवक-पण्डित लक्ष्मीधर बाजपेयी ने भी अपने हिन्दी मेघदूत में कई स्थानों पर इस प्रणाली को ग्रहण किया है, नीचे के पद्यों को अवलोकन कीजियेः—

"उस्का नाला जल पट तटशोणि से तू हरेगा"
"उस्के शांतीहर शिखर पै तू लखेगा सखा यों"
जिस्की सेवा उचित रति के अंत में मत्करों से"

बाजपेयीजी की कविता वर्णवृत्त में लिखी गई है, जिसमें लघु गुरु नियत संख्या से आते हैं, इसलिये यदि उन्होंने दा दीर्घ रखने के लिये कविता में उसका, उसके, जिसकी, के स्थान पर उस्का, उस्के, जिस्की लिखा तो उनका यह कार्य्य विवशतावश है। ऐसे स्थलों पर यह प्रयोग अधिक निन्दनीय नहीं है, किन्तु गद्य में अथवा वहां जहां कि शुद्ध रूप में यह शब्द लिखे जा सकते हैं इन शब्दों का संयुक्त रूप में प्रयोग मैं उचित नहीं समझता; इसके निम्न लिखित कारण हैं:—

१—यह कि गद्य की भाषा में जो शब्द जिस रूप में व्यवहृत होते हैं मुख्य अवस्थाओं को छोड़ कर पद्य की भाषा में भी उन शब्दों का उसी रूप में व्यवहृत होना समीचीन, सुसंगत और बोधगम्य होगा।

२—यह कि उसको जिसमें जिसको इत्यादि शब्दों को प्राचीन और आधुनिक अधिकांश गद्य-पद्य-लेखक इसी रूप में लिखते आते हैं, फिर कोई कारण नहीं है कि इस प्रचलित प्रणाली को बिना किसी मुख्य हेतु के परित्याग किया जावे।

३—यह कि हिन्दी भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति यथासंभव संयुक्ताक्षरत्व से बच कर रहने की है, अतएव उसके सर्वनामों इत्यादि को जो कि समय-प्रवाह-सूत्र से संयुक्त रूप में नहीं हैं संयुक्त रूप में परिणत करना दुर्बोधता और क्लिष्टता सम्पादन करना होगा।

अब रही यह बात कि यदि वास्तव में हिन्दी में कुछ अकारान्त वर्ण, शब्द-खण्ड और धातुचिह्न के प्रथम के अक्षर हलन्तवत् बोले जाते हैं, तो कोई कारण नहीं है, कि उच्चारण के अनुसार वे लिखे न जावें। इस विषय में मेरा

यह निवेदन है कि इन वर्णों, शब्द-खण्डों, और धातुचिह्नों के प्रथम के अक्षरों का ऐसा उच्चारण हिन्दी के जन्मकाल से ही है, या कुछ काल से हो गया है? और यदि जन्मकाल से ही है; तो इसके व्याकरण-रचयिताओं और लेखकों ने इस विषय में अमनोनिवेश क्यों किया? यदि उन्होंने मनोनिवेश नहीं भी किया तो एक वास्तव और युक्तिसंगत बात के ग्रहण करने में इस समय संकोच क्या? और यदि उसके ग्रहण में संकोच उचित नहीं, तो केवल पद्य में ही वे क्यों ग्रहण किये जावें, गद्य में भी क्यों न गृहीत हों? इन प्रश्नों के उत्तर में अधिक न लिख कर मैं केवल इतना ही कहूंगा कि इन वर्णों, शब्दखंडों और धातुचिह्नों के प्रथम के अक्षरों को भाषाव्याकरण कर्त्ताओं ने स्वरसंयुक्त माना है; हलन्तवत् नहीं। क्योंकि हलंतवत् क्या? कोई व्यञ्जन या तो स्वर संयुक्त होगा या हलंत, और जब उन्होंने उनको स्वर-संयुक्त मान कर ही उनके सब रूप बनाये हैं, तो अब उनके विषय में एक नवीन पद्धति स्थापित करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती क्योंकि व्याकरण उच्चारण के अनुकूल ही बनता है, उसके प्रतिकूल नहीं। समय पा कर उच्चारण में भिन्नता अवश्य हो जाती है, और उस समय व्याकरण भी बदलता है; परन्तु इन वर्णों;, शब्दखंडों और धातुचिह्नों के प्रथम के अक्षर के लिये अभी वे दिन नहीं आये हैं। सोचिये, यदि इसको, जिसको इत्यादि को इस्को, जिस्को लिखें और करना, धरना चलना, इत्यादि को कर्ना, धर्ना, चल्ना, इत्यादि लिखने लगें, तो हिन्दीभाषा में कितना बड़ा परिवर्त्तन उपस्थित होगा।

समादरणीय पाठकजी का एक लेख खड़ी बोली की कविता पर प्रथम हिन्दी साहित्यसम्मेलन के कार्य्यविवरण में मुद्रित हुआ है, उसके पृष्ठ ३२ में एक स्थान पर उन्होंने इस विषय पर विचार करते हुए ऐसे शब्दों के विषय में यह लिखा है:—

"भाषा के शील संरक्षण की दृष्टि से पद्य लिखने में आवश्यकतानुसार बोलने की रीति अवलम्बन करने से कोई आपत्ति तो नहीं उपस्थित होती।"

"इस सब जगड्वाल के प्रदर्शन से मेरा अभिप्राय यह नहीं है, कि हमारी भाषा के पद्य में इस प्रकार शब्द व्यवहार करना चाहिये, किन्तु बुधजनों के विचार के लिये यह मेरी केवल एक प्रस्तावनामात्र है।"

ये दोनों वाक्य यह स्पष्ट बतला देते हैं कि प्रशंसित पाठकजी भी गद्य में इस प्रकार शब्दों को लिखना उचित नहीं समझते, पद्य में भी वह आवश्यकतानुसार ऐसा प्रयोग आपत्ति-रहित मानते हैं। पाठकजी के निम्न लिखित वाक्यांशों से भी यही बात सिद्ध होती है।

"आज कल मैं ऐसे स्थान पर हूं कि उदाहरण नहीं दे सकता" "दूसरा वह जिसमें भाषा का यह गुण उपेक्षित सा देखने में आता है" "मिश्रित वा खिचड़ी भाषा के पद्य में यह योग्यता नहीं आ सकती" 'ऐसी भाषा का प्रयोग उत्कृष्ट काव्य में कदापि न करना चाहिए।"

हि॰ सा॰ स॰ बि॰ प्रथम भाग पृष्ठ २६।

"उसके मन में सर्वोत्तम है उसका ही प्रिय जन्मस्थान'
"उनके उरके मध्य मूर्खता का अंकुर भी बोता है"

श्रान्तपथिक पृष्ठ १, ११।

अब मैं यह दिखलाना चाहता हूं कि कुछ अकारान्त वर्ण जैसे बस, अब जतन इत्यादि के स, व, न, आदि कुछ ऐसे शब्दखण्ड के अन्त्याक्षर जिनपर बोलने में आघात सा पड़ता है जैसे गलबाहीं, मनभावना इत्यादि के गल और मन आदि, कुछ ऐसे वर्ण जो धातुचिह्न के पहले रहते हैं जैसा करना धरना चलना इत्यादि के र, ल, आदि। यदि आवश्यकतानुसार उच्चारण का ध्यान करके पद्य में हलन्त कर लिये जावें

तो उस से कुछ सुविधा होगी या नहीं ? और ऐसे प्रयोग का हिन्दी भाषा के पद्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? मैं प्रशंसित पाठकजी के उक्त लेख में से ही एक पद्य यहां उठाता हूँ, आप इसे अवलोकन कीजियेः—

पर इत्ने पर् भी तो नहीं मन हुआ शान्त उनका।
बस् अब् क्या करना था जब जतन कोई नहिं चला।

इस पद्य में इतने को इत्ने, पर को पर्, बस को बस् और अब को अब् किया गया है। यह संस्कृत का शिखरिणी छंद है, यगण भगण, नगण, सगण, मगण, लघु गुरू का शिखरिणी छंद होता है। श्रुतबोध में इसका लक्षण यह लिखा हैः—

श्लोक

यदि प्राच्यो ह्रस्वस्तुलितकमले पञ्चगुरवः ॥
ततो वर्णाः पञ्च प्रकृतिसुकुमाराङ्गि लघवः ॥
अथोन्ये चोपान्त्यः सुतनुजघने भोगसुभगे ॥
रसैरीशै र्यस्यां भवति विरतिः सा शिखरिणी ॥

इस लिये यदि ऊपर के दोनों चरण निम्नलिखित रीति से लिखे जावें तो निर्दोष होंगे, जैसे वे लिखे गये हैं, उस रीति से लिखने में छन्दोभङ्ग होता है।

परित्ने पर भी तो नहिं मनहुआ शान्त उनका।
बसब क्या कर्ना था जब जतन कोई नहिं चला ॥

प्रथम प्रकार से लिखने में पहले चरण में दो लघु के उपरान्त चार गुरु पड़ते हैं किन्तु उक्त नियमानुसार एक लघु के पश्चात पांच गुरु होने चाहिये। इसलिये यदि यह चरण-खण्ड 'परित्नेपरभी' कर दिया जावे तो दोष निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार "बस्अव् क्या करना था" यों लिखने से दूसरे चरण के प्रथम खण्ड में पहले तीन गुरु फिर दो लघु और

बाद को दो गुरुपड़ते हैं अतएव यह चरणखण्ड भी सदोष है, यह जब यों लिखा जावे कि 'बसब क्या कर्ना था' तो ठीक होगा। किन्तु यह बतलाइये कि इस प्रकार शब्दविन्यास कहां तक समुचित होगा। संस्कृत के यत् तत् की भांति पर को पर, बस को बस् और अब को अब् लिखकर एकगुरु बना लेना कहां तक युक्तिसंगत और हिन्दी भाषा की प्रणाली के अनुकूल है, इसको सहृदय पाठक स्वयं विचारें। इन्हीं दोनों चरणों में मन, उनका, जब, और जतन भी हैं किन्तु ये मन् उन्का, जब् और जतन् नहीं बनाये गये। मुख्य कारण यह है कि ऐसा करने से छन्द और सदोष हो जाता और उसकी भद्दता का पारा और ऊँचा चढ़ जाता। इस लिये उनके रूपपरिवर्त्तन की आवश्यकता नहीं हुई। यदि यह प्रणाली भाषा पद्य में चलाई जावे तो उसमें कितनी जटिलता और दुरूहता आ जावेगी इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं कथित दोनों बातें ही इसका पर्य्याप्त प्रमाण हैं। हिन्दीभाषा की प्रकृति हलन्त को प्रायः सस्वर बना लेने की है। यदि उसकी इस प्रकृति पर दृष्टि न रख कर उसके सस्वर वर्णों को भी हलन्त बना कर उसे संस्कृत का रूप दिया जाने लगे तो उसका हिन्दीपन तो नष्ट हो ही जायगा, साथही यह संस्कृत भाषा के हलन्त वर्णों के समान संधिसाहाय्य से सौंदर्य्यसम्पादान करने के स्थान पर नितान्त असुविधामूलक पद्धति ग्रहण करेगी, और अपनी स्वाभाविक सरलता खो देगी।

संस्कृत के निम्न लिखित पद्यों को देखिये, इनमें किस प्रकार हलन्त वर्णों ने सस्वर व्यञ्जन का रूप ग्रहण किया है, और इस परिवर्त्तन से इन पदों में कितना माधुर्य्य आ गया है, हिन्दी में किसी हलन्त वर्ण को यह सुयोग कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी नहीं है, उदाहरण के लिए ऊपर की कविता के दोनों चरण ही पर्याप्त हैं।

वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमती मिवापराम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुद्रुमवतीमवतीर्य्य वनस्थलीम् ।

रघुवंश

मामपि दहत्येकायमहर्निशिमनल इवापत्यतासमुद्भवः शोकः ।
शून्यमिव प्रतिभाति मे जगत् अफलमिव पश्यामि राज्यम् ।

कादम्बरी

जो उर्दू के ढंग का पद्य सुधी पाठकजी ने संगीतशाकुन्तल से उठाया है, उसको भी मैं नीचे लिखता हूं, आप लोग इसे भी देखिये :--

पर इस्से पूछ ले क्या इसका मन है।
तू सोचे जा न कर चिन्ता कुछ इसकी ॥

इस पद्य में इससे के इस्से कर दिया गया है, किन्तु दोनों की ही चार मात्रायें हैं इस लिये इस पद्य में यदि इस्से के स्थान पर इससे ही रहता तो भी कोई अन्तर न पड़ता जैसा कि उस पद्य के दूसरे चरण के इसकी और इसी चरण के इसका के इसी रूप में लिखे जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ा। यह उन्नीस मात्रा का मात्रिक छन्द है, इसके चरणों में दो दो मात्रा अधिक हैं। इससे जो तौल कर न पढ़ा जावे, तो इनमें छन्दोभंग होता है। परन्तु यह छन्दोभंग दोष उनमें के इससे इसका, इसकी को इस्से, इस्का, इस्की कर न देने से दूर नहीं हो सकता, क्योंकि मात्रा दोनों रूपों में ही समान हैं फिर उसको यह रूप देने से क्या लाभ ? हां, यदि वे निम्नलिखित प्रकार से लिखे जावें तो निसन्देह उनकी सदोषता दूर हो जावेगी, परन्तु ऐसी अवस्था में शब्दार्थ के समझने में कितनी उलझन होगी, यह अविदित नहीं है।

प, इससे पूछ ले क्या इसके मन है।
तू सोचे जा, न कर चिन्ता कुछिसकी ॥

संस्कृत के वर्णवृत्त और हिन्दी के मात्रिक छन्दों की

नियमावली इतनी सुन्दर और तुली हुई है, और उसमें लघु गुरु वर्णों के संस्थान और मात्राओं की संख्या इस रीति से नियत की गई है कि यदि सावधानी से कार्य्य किया जावे, तो उनकी रचना में छन्दोभंग हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह कि जब पद्यरचना हो गई तो जैसे चाहिये पढ़िये दूसरे से पढ़वाइये, उसके पढ़ने में उलझन होहीगी नहीं। क्योंकि उसमें एक लघु गुरु अक्षर का हेर फेर नहीं, एक मात्रा घट बढ़ नहीं, फिर छन्दोभंग कैसे होगा और जब छन्दोभंग नहीं होगा तो उलझन क्यों होगी? किन्तु उर्दू पद्यों की रचना वजन पर होती है, न उनमें लघु, गुरु का नियम है न मात्राओं का, केवल कुछ वजन नियत हैं, उन्हीं वजनों को कैंडा मानकर उसी कैंडे पर उसमें कविता की जाती है। जैसे, एक वजन बतायागया, "मफ़ऊलफ़ायलातुन मफ़ऊलफ़ायलातुन" अब इसी वज़न पर उर्दू के कवि को कविता करनी पड़ती है; उसको यह ज्ञात नहीं है, कि कितने अक्षर और मात्रा से इस वज़न का छन्द बनेगा। यह प्रणाली उसने अरबी और फ़ारसी से ली है। अभ्यास एक अद्भुत वस्तु है उससे सब कुछ हो सकता है, और उसीके द्वारा केवल वज़न के आश्रय से अरबी फ़ारसी में बिना छन्दोभङ्ग के बड़ी सुन्दर कवितायें लिखी गई हैं, कि उनमें एक मात्रा भी घटी बढ़ी नहीं पाई जाती, वज़न पर ही उनकी अधिकांश कविता छन्दगत विषय में सर्वथा निर्दोष हैं। परन्तु उर्दू में केवल वजन ने बड़ी उलझन पैदा की है, मुख्य कर उन लोगों के लिये जो वर्णवृत्त और मातृक छन्द पढ़ने के अभ्यस्त हैं। उर्दू कवियों ने वज़न पर काम किया है, इसलिये भाषा की क्रियाओं और शब्दों को बेतरह दबा दुबा, और तोड़ फोड़ डाला है। क्योंकि वज़न के कैंडे पर वे प्रायः ठीक नहीं उतर सके। उर्दू भाषा में लिखे गये छन्द को कोई मनुष्य उस समय तक शुद्धता से

कदापि नहीं पढ़ सकता, जब तक कि उसको वज़न न ज्ञात हो। यदि कोई अक्षरों और मात्राओं के सहारे शब्दों का शुद्ध उच्चारण करके उर्दू के पद्यों को पढ़ना चाहेगा, तो अधिकांश स्थलों पर उसका पतन होगा। मिर्ज़ा ग़ालिब का एक शेर है:—

यह कहां की दोस्ती है जो बने हैं दोस्त नासेह।
कोई चारा कार होना कोई ग़म गुसार होता॥

यह शेर यदि निम्नलिखित प्रकार से लिख दिया जावे तब तो उसको सब शुद्धतापूर्वक पढ़ लेंगे, अन्यथा बिना वज़न पर दृष्टि डाले उसका ठीक ठीक पढ़ना असंभव है:—

य कहां की दोस्ती है जुबनेह दोस्त नासह।
कोचार कार होता को ग़म गुसार होता॥

यह हिन्दी भाषा का २४ मात्रा का दिग्पाल छन्द है, जिसमें बारह बारह मात्राओं पर विराम होता है। किन्तु आप देखें, चौबीस मात्रा का छन्द बना कर लिखने में उक्त शेर के कुछ शब्द कितने विकृत हुए हैं और किस प्रकार उनमें दुर्बोधता आ गई है। अतएव बोध के लिये शब्दों का शुद्ध रूप में लिखा जाना ही समुचित और आवश्यक ज्ञात होता है। हां, पढ़ने के लिये उस वज़न का अवलम्बन करना पड़ेगा जो कि दिग्पाल छन्द का है, चाहे शब्दों और रसना को कितना ही दबाना पड़े, निदान यही प्रणाली प्रचलित भी है। जब उर्दू बह्र में लिखे गये, शेर या हिन्दी भाषा के पद्य, लिखे चाहे जिस प्रकार से जावें पढ़े वज़न के अनुसार ही जायेंगे तो फिर शब्दों को विकृत करने से क्या प्रयोजन ? मैं समझता हूं इस विषय में वही पद्धति अवलम्बनीय है, जो अब तक प्रचलित और सर्वसम्मत है।

मैं यह स्वीकार करता हूं कि कभी कभी मात्रिक छन्दों में भी स्वरसंयुक्त वर्ण को हलन्तवत पढ़ने से ही छन्द की

गति निर्दोष रहती है, और कहीं कहीं इस छन्द में भी वर्ण वृत्त के समान नियमित स्थान पर नियत रीति से लघु गुरु रखने से ही काम चलता है। किन्तु उर्दू बह्र के वज़न ही जब इस काम को पूरा कर देते हैं; तो शब्दों को विकृत करके बोध में व्याघात उत्पन्न करना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। वज़न के अनुकूल शब्दों को विकृत करके कविता को ठीक कर लेना यद्यपि छन्द की गति के लिये अवश्य उपयोगी होगा, परन्तु उससे जो शब्दों में विकृति होगी, वह बड़ी ही दुर्बोधता और जटिलतामूलक होगी; अतएव ऐसी अवस्था में वज़न का आश्रय ही वांछनीय है शब्द की विकृति नहीं। निदान इस समय यही प्रणाली प्रचलित और गृहीत है।

मैंने इन्हीं बातों पर दृष्टि रख कर 'प्रियप्रवास' में इसको जिसको, करना, इत्यादि को इसी रूप में लिखा है उनको संयुक्ताक्षर का रूप नहीं दिया है। न जन, मन, मदन, बस, अब, इत्यादि के अंतिम अक्षरों को कहीं गुरु बनाने के लिये हलन्त किया है, आशा है मेरी यह प्रणाली बुधजन द्वारा अनुमोदित समझी जावेगी।

हलन्त वर्णों का सस्वर प्रयोग।

मैं ऊपर लिख आया हूं कि हिन्दी भाषा की यह स्वाभाविकता है, कि वह प्रायः युक्त वर्णों को सारल्य के लिये अयुक्त बना लेती है, और हलन्त वर्ण को सस्वर कर लेती है, गर्व, मर्म, धर्म्म, दर्प मार्ग, इत्यादि का गरब, मरम, धरम, दरप, मारग, इत्यादि लिखा जाना इस बात का प्रमाण है। यद्यपि आजकल की भाषा अर्थात् गद्य में यह शब्द प्रायः शुद्ध रूप में ही लिखे जाते हैं, किन्तु साधारण बोलचाल में वह अपभ्रंश रूप में ही काम देते हैं। खड़ी बोलचाल की कविता में गद्य के संसर्ग से वह शुद्ध रूप में भी लिखे जाने लगे हैं। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनके अपभ्रंश रूप से भी काम

लिया जाता है। मेरे विचार में यह दोनों प्रणाली ग्राह्य हैं। हलन्त वर्ण को सस्वर करके लिखने और युक्त वर्ण को अयुक्त वर्ण का रूप देने की प्रथा प्राचीन है और उसके पास आचार्यों और प्रधान काव्यकर्त्ताओं द्वारा व्यवहार किये जाने की सनद भी है, जैसा कि निम्नलिखित पद्यखण्डों के अवलोकन करने से अवगत होगा।

शुक से मुनि शारद से बकता चिरजीवन लोमस से अधिकाने।

गोस्वामी तुलसी दास।

आपने करम करि उतरोगो पार तो पै हम करतार करतार तुम काहे को।

सेनापति।

राति ना सुहात ना सुहात परभात आली जब मन लागि जात काहू निरमोही सों।

पद्माकर।

जे विपति हूं मैं पालि पूरब प्रीति काज संवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं संशय नहीं॥

बाबू हरिश्चन्द्र।
(मुद्रा राक्षस)

निदान इसी प्रणाली का अवलम्बन करके मैंने भी 'प्रियप्रवास' में मरम इत्यादि शब्दों का प्रयोग संकीर्ण स्थलों पर किया है। ऐसा प्रयोग मेरी समझ में उस दशा में यथाशक्ति न करना चाहिये, जहां वह परिवर्त्तित रूप में किसी दूसरे अर्थ का द्योतक होवे। जैसा कि कविवर बिहारी लाल के निम्नलिखित पद्य का समर शब्द है, जो स्मर का अशुद्ध रूप है; और कामदेव के अर्थ में ही प्रयुक्त है; परन्तु अपने वास्तव अर्थ संग्राम की ओर चित्त को आकर्षित करता है।

"धस्यो मनो हिय घर समर ड्योढ़ी लसत निसान"

हिन्दी भाषा की कथित प्रकृति पर दृष्टि रख कर हा प्राचीन कतिपय लेखकों ने पद्य क्या गद्य में भी अनेक शब्दों के हलन्त वर्ण को सस्वर लिखना प्रारम्भ कर दिया था। मुख्यतः वे उस हलन्त वर्ण को प्रायः सस्वर करके लिखते थे जो कि किसी शब्द के अन्त में होता था। इस बात के प्रमाणित करने के लिये मैं मार्म्मिक लेखक स्वर्गीय श्रीयुत पंडित प्रताप नारायण मिश्र लिखित कतिपय पंक्तियां, उनके प्रसिद्ध 'ब्राह्मण' मासिक पत्र के खण्ड ४ संख्या १, २ से नीचे अविकल उद्धृत करता हूं—

'तो कदाचित कोई परमेश्वर का नाम भी न ले"
'आप को चन्द्र का सूर्य इन्द्र करण व हातिम बनाया करते हैं"
"छोटे बड़े दरिद्री धनी मूर्ख विद्वान सब का यही सिद्धान्त है"

सं॰ पृ॰ १०

सभी या तो प्रत्यक्ष ही विषवत या परम्परा द्वारा कुछ न कुछ नाश करनेवाले"

"बंधनरहित होने पर भी भगवान का नाम दामोदर क्यों पड़ा"

सं० २ पृ० २

द्रुपदतनया को केशाकरषण एवं वनवास आदि का दुख सहना पड़ा।

"यदि थोड़े से लोग उसके चाहनेवाले हैं भी तो निर्बल निरधन बदनाम"

सं० २ पृ॰ ४

यद्यपि कभी कभी विद्वान, धनवान और प्रतिष्ठावान लोग भी उसके यहां जा रहते हैं"

स॰ २ पृ॰ ५

"उसके चाहनेवाले उसे सारे जगत की भाषा से उत्तम माने बठे हैं"

सं० २ पृ॰ ६

"इस से निरलज्ज हो के साफ़ साफ़ लिखते हैं।

सं० १ पृ० ४

किन्तु आज कल गद्य में किसी हलन्त वर्ण को सस्वर लिखना तो उठता ही जा रहा है, प्रत्युत पद्य में भी इसका प्रचार हो चला है। मध्य के हलन्त वर्ण की बात तो दूर रही इन दिनों किसी शब्द के अन्त्यस्थित हलन्त को भी कतिपय आधुनिक प्रधान लेखक सस्वर लिखना नहीं चाहते। कदाचित्, विद्वान्, विषवत्, भगवान्, धनवान्, प्रतिष्ठावान्, जगत् इत्यादि शब्दों के अन्तिम वर्ण को भी वे अब संस्कृत की रीति के अनुसार हलन्त ही लिखते हैं। आज कल वही लोग ऐसा नहीं करते जो संस्कृत कम जानते हैं अथवा प्राचीन प्रणाली के अनुमोदक हैं, अन्यथा प्रायः हिन्दी लेखक इसी पथ के पान्थ हैं। मैं यह कहूंगा कि इस प्रथा का जितना अधिक सामयिक पत्र पत्रिकाओं में प्रचार हो रहा है, उतना ही संस्कृत से अनभिज्ञ लेखक को हिन्दी लिखना एक प्रकार से दुस्तर हो चला है, और इस मार्ग में कठिनता उत्पन्न हो गई है, परन्तु समय के प्रवाह को कौन रोक सकता है? पद्य में अब भी यह प्रणाली सर्वतोभावेन गृहीत नहीं हुई है, उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पद्यों पर दृष्टिपात कीजिये।

मित्र बन्धु विद्वान साधुसमुदाय एक सपना पाया।
इस प्रकार हो विज्ञ जगत में नहीं किसी पर मरता हूं।
तो भी किन्तु कदाचित यदि बहु देशों का हम करें मिलान।
परिमित इच्छावान वहां के योग्य वहां का है बासी।
दीन उसे बेंचे है औ धनवान मोल को मांगे है।

पं० श्रीधर पाठक (श्रान्तपथिक)

थे नियम विद्या विनय के और हम विद्वान थे।
धर्मनिष्ठा थी सभी गुणवान थे श्रीमान थे॥

सरस्वती-भाग १४ खंड २ संख्या ५ पृ० ६३३।

मैंने भी 'प्रियप्रवास' में कदाचित्, महत् इत्यादि शब्दों का प्रयोग आवश्यक स्थलों पर उनके अन्तिम हलंत वर्ण को सस्वर बना कर किया है। मेरा विचार है कि कविता के लिये इतनी सुविधा आवश्यक है, यों तो हिन्दी की गठन प्रणाली का ध्यान करके इनका गद्य में भी इस प्रकार लिखा जाना सर्वथा असंगत नहीं है।

शाब्दिक विकलांगता

इस ग्रन्थ में जायेंगे, वैसा, ही, वैसीही इत्यादि के स्थान पर जायंगे, वैसिही वैसही इत्यादि भी कहां कहीं लिखा गया है। यह शाब्दिक विकलांगता पद्य में इस सिद्धान्त के अनुसार अनुचित नहीं समझी जाती "अपि माषं मषं कुर्य्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्" अतएव इस विषय में मैं विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं समझता । केवल जायंगे के विषय में इतना कह देना चाहता हूं कि अधिकांश लेखक गद्य में भी इस क्रिया को इसी प्रकार लिखते हैं। नीचे के वाक्यों को देखिये।

'अरे वेणुवेत्रक, पकड़ इस चन्दनदास को घर वाले आप ही रो पीट कर चले जायंगे"

मुद्राराक्षस पृष्ठ ११६

"धार्मिक अथवा सामाजिक विषयों पर विचार न किया जायगा, हिन्दी समाचारपत्रों में छापने के लिये भेज दी जायं"

द्वि० हि० सा० वि० प्रथम भाग पृष्ठ ५०-५१

अब इसके प्रतिकूल प्रयोगों को देखिये।

"कहीं भी इतने लाल नहीं होते कि वे बोरियों में भरे जावें।

"हिन्दीभाषा के उत्तमोत्तम लेखों के साथ गिना जावे।

'धीरे धीरे अपने सिद्धान्त के कोसों दूर हो जावेंगे।

द्वि० हि० सा० स० वि० की भूमिका पृष्ठ १,२,३

"मेरे ही प्रभाव से भारत पायगा परमोज्ज्वल ज्ञान"
"मिट अवश्य ही जायगा यह अति अनर्थकारी अज्ञान"
"जिसमें इस अभागिनी का भी हो जावे अब बेड़ा पार"

श्रीयुत पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी।

मेरा विचार है कि जायंगे, जायगा, दी जाय, इत्यादि के स्थान पर जायेंगे, वा जावेंगा जावेगा वा जायेगा, दी जाये वा दी जावे इत्यादि लिखना अच्छा है, क्योंकि यह प्रयोग ऐसी सब क्रियाओं में एक सा होता है, किन्तु प्रथम प्रयोग इस प्रकार की अनेक क्रियाओं में एक सा नहीं हो सकता। जैसे जाना धातु का रूप तो जायंगे जायगा, इत्यादि बन जावेगा परन्तु आना, पीना इत्यादि धातुओं का रूप इस प्रकार न बन सकेगा, क्योंकि आयंगे, पीयगा इत्यादि नहीं लिखा जाता आयेगा या अवेगा, पीयेगा या पीवेगा इत्यादि ही लिखा जाता है।

विशेषण विभिन्नता।

हिन्दीभाषा के गद्य पद्य दोनों में विशेषण के प्रयोग में विभिन्नता देखी जाती है। सुन्दर स्त्री, या सुन्दरी स्त्री, शोभित लता, या शोभिता लता, दोनों लिखा जाता है। निम्न लिखित गद्य पद्य को देखिये—इनमें आपको दोनों प्रकार का प्रयोग मिलेगा।

"अभी-जो इसने अपने कानों को छूनेवाली चञ्चल चितवन से मुझे देखा"

"जो स्त्रियां ऐसी सुन्दर हैं उनपर पुरुष को आसक्त कराने में कामदेव को अपना धनुष नहीं चढ़ाना पड़ता"

कर्पूरमंजरी पृ॰ १०,११

"निरवलम्बा, शोकसागरमग्ना, अभागिनी अपनी जननी की दुरवस्था एक बार तो आंखें खोल कर देखो"

"तुम लोग अब एक बेर जगत विख्याता, ललनाकुलकमल-

कलिकाप्रकासिका, राजनिचयपूजितपादपीठा, सरलहृदया, आर्द्रचित्ता, प्रजारंजनकारिणी, दयाशीला, आर्य्यस्वामिनी, राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरणकमलों में अपने दुःख को निवेदन करो"

भारतजननी पृ० ६, ११

"धूनी तपै आग की ज्वाला चञ्चलशिखा झलकती है"
कोमल, मृदुल,मिष्टवाणी से दुख का हेतु परखता है"
"अपनी अमृतमयी बाणी से प्रेमसुधा बरसाता था"

एकान्तवासी योगी

"जयति पतिप्रेमपनप्रानसीता। नेहनिधि रामपद प्रेमअवलम्बिनी सततसहबास पतिव्रत पुनीता"

श्री पं० श्रीधर पाठक।

"भृकुटी बिकट मनोहर नासा"
"सोह नवल तन सुन्दर सारी"
"मोहनदी कहं सुन्दर तरनी"
"सकल परमगति के अधिकारी"
पुनि देखी सुरसरी पुनीता"
'ममधामदा पुरी सुखरासी"
"नखनिर्गता सुरबन्दिता त्रयलोकपावन सुरसरी"

महात्मा तुलसी दास।

इस सर्वसम्मत प्रणाली पर दृष्टि रख कर ही इस ग्रन्थ में भी विशेषणों का प्रयोग उभय रीति से किया गया है।

हिन्दी-प्रणाली प्रस्तुत शब्द

कुछ शब्द इसमें ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं, जो सर्वथा हिन्दी प्रणाली पर निर्मित हैं। संस्कृत व्याकरण का उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यदि उसकी पद्धति के अनुसार उनके रूपों

की मीमांसा की जावेगी तो वे अशुद्ध पाये जावेंगे, यद्यपि कि हिन्दी भाषा के नियम से वे शुद्ध हैं। ए शब्द मृगदृगो दृगता इत्यादि हैं। मृगदृगी का मृगदृषी, दृगता का दृक्ता शुद्ध रूप है, परन्तु कवितागत सौकर्य्यसम्पादन के लिये उनका वही रूप रखा गया है। हिन्दी भाषा के गद्य पद्य दोनों में इसके उदाहरण मिलेंगे' एक नीचे लिखा जाता है।

"ऐसी रूचिर-दृगी मृगियों के आगे शोभित भले प्रकार"।

बाबू मैथिली शरण गुप्त।

सरस्वती भाग ८ सं० ६ पृ० २११।

शब्दविन्यासविभिन्नता।

शब्दविन्यास में भी विभिन्नता इस ग्रन्थ में आप लोगों को मिलेगी, ऐसा अधिकतर गद्य की भाषा का विचार करके और कहीं कहीं छन्द की अवस्था पर दृष्टि रख कर हुआ है। रोये बिना न छन भी मन मानता था' 'रोना महा अशुभ जान पयान बेला' यदि मैं इन चरणों में छन के स्थान पर क्षण, पयान के स्थान पर प्रयाण लिखता तो इनके लालित्य में कितना अन्तर पड़ जाता। इसी प्रकार यदि मैं सचेष्ट होते भर वे क्षणेक थे, इस चरण में क्षणेक के स्थान पर छनेक लिख देता तो इसके ओज और रस में कितना विभेद होता और यही कारण है कि आप इस ग्रन्थ में कहीं छन कहीं क्षण कहीं भाग कहीं भाग्य, कहीं पयान, कहीं प्रयाण, इत्यादि विभिन्न प्रयोग देखेंगे।

मैंने इस विषय का पूर्ण ध्यान रखा है, कि ग्रन्थ की भाषा एक प्रकार की हो, और यथाशक्य मैंने ऐसा किया भी है, तथापि रस और अवसर के अनुसरण से आप इस ग्रन्थ की भाषा को स्थान स्थान पर परिवर्तित पावेंगे। मैंने ऊपर कहा है कि जिस पद्य में मुझको जिस प्रकार का शब्द रखना उचित जान पड़ा, मैंने उसमें वैसा ही शब्द रखा है, परन्तु नहीं कह

सकता कि मैं अपने उद्देश्य में कहां तक कृतकार्य्य हुआ हूं, और सहृदय कवि एवं विद्वानों को मेरी यह परिपाटी कहां तक उचित जान पड़ेगी। मेरा यह भी विचार हुआ था कि मैं ब्रजभाषा की प्रणाली के अनुसार ण,श इत्यादि को न,स इत्यादि से बदल कर इस ग्रन्थ की भाषा को विशेष कोमल कर दूं रमणीय, श्रवण, शोभा, शक्ति इत्यादि को रमनीय, स्रवन, सोभा, सक्ति कर के लिखूं। परन्तु ऐसा करने से प्रथम तो इस ग्रन्थ की भाषा वर्त्तमान काल की गद्य की भाषा से अधिक भिन्न हो जाती दूसरे इसमें जो संस्कृत का यत्किंचित् रंग है वह न रहता, और भद्दापन एवं अमनोहारित्व आ जाता। इस समय जितना रमणीय शब्द श्रुतिसुखद और प्यारा ज्ञात होता है उतना रमनीय नहीं; जो शोभा लिखने में सौन्दर्य्य और समादर है वह सोभा लिखने में नहीं। अतएव कोई कारण नहीं है कि मैं सामयिक प्रवृत्ति और प्रवाह पर दृष्टि न रख कर एक स्वतन्त्र पथ ग्रहण करता। किसी कवि ने कितना अच्छा कहा है—

"दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव।
तस्य तदेवहि मधुरं यस्य मनोयाति यत्र संलग्नम्॥"

इस ग्रन्थ में आप कहीं कहीं बहुबचन में भी यह और वह का प्रयोग देखेंगे, इसी प्रकार कहीं कहीं यहां के स्थान पर यां वहां के स्थान पर वां, नहीं के स्थान पर न और वह के स्थान पर सो का प्रयोग भी आप को मिलेगा। उर्दू के कवि एकबचन और बहुबचन दोनों में यह और वह लिखते हैं; और यहां और वहां के स्थान पर प्रायः यां और वां का प्रयोग करते हैं परन्तु मैंने ऐसा संकीर्ण स्थलों पर ही किया है। हिन्दी भाषा के आधुनिक पद्यलेखकों को भी ऐसा करते देखा जाता है। मेरा विचार है कि बहुबचन में ए और वे का प्रयोग ही उत्तम है और इसी प्रकार यहां और वहां लिखा

जाना ही यथाशक्य अच्छा है; अन्यथा चरण संकीर्ण स्थलों पर अनुचित नहीं, परन्तु वहीं तक वह ग्राह्य है जहां तक कि मर्य्यादित हो। नहीं और वह के स्थान पर न और सो के प्रयोग के विषय में भी मेरा यही विचार है। उक्त शब्दों के व्यवहार के उदाहरण स्वरूप कुछ पद्य और गद्य नीचे लिखे जाते हैं।

"जिन लोगों ने इस काम में महारत पैदा की है, वह लफ़ज़ों को देखकर साफ़ पहचान लेते हैं"

"ख्यालात, का मरतबा ज़बान से अव्वल है, लेकिन जब तक वह दिल में है, मा के पेट में अधूरे बच्चे है"

"या यह दोनों जबानें एक ज़बान से इस तरह निकली होंगी, जिस तरह एक बाप की दो बेटियां जुदा हो गई"

वरना खाना-बदोशी के आलम में खुशबाश ज़िन्दगी बसर करते हैं, यह जंगलों के चरिन्द और पहाड़ों के परिन्द ऐसी बोलियां बोलते हैं"

सखुनदान फारस सफहा २, ६, २५।

वह झाड़ियां चमन की वह मेरा आशियाना!
वह बाग़ की बहारें वह सबका मिलके गाना॥

सरस्वती।

तो वां ज़र्रा ज़र्रा यह करता है एलां।
हवा यां की था ज़िन्दगी बख्श दौरां॥
कि आती हो वां से नज़र सारी दुनिया।
ज़माना की गरदिश से है किस को चारा॥
कभी यां सिकन्दर कभी यां है दारा।"

मुसद्दसहाली।

"है धन्य वही परमातमा जो यां तक लाया हमें।"

सरस्वती भा० ८ सं० १ पृष्ठ २५।

"जाइ न बरनि मनोहर जोरी। दरस लालसा सकुच न थोरी॥"

महात्मा तुलसी दास।

"रूप सुधा इकली ही पिये पियहू को न आरसी देखन देत है"

भारतेन्दु ।

" न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है"

काव्यमंजूषा पृष्ठ १०२ ।

" सो तो कियो वायु सेवन को मानहुं अपर प्रकारा है"

" सबै सो अहो एक तेरे निहोरे "

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

(काव्यमंजूषा पृष्ठ ५८, ६१)

"और जो है सो है ही, किन्तु पाठक ज़रा इस कथन को ध्यानपूर्वक देखें "

अभ्युदय, भाग ८ संख्या ३ पृष्ठ ३ कालम ३ ।

ब्रजभाषाशब्दप्रयोग ।

आज कल के कतिपय साहित्यसेवियों का विचार है कि खड़ी बोली की कविता इतनी उन्नत हो गई है, और इस पद पर पहुंच गई है, कि उसमें ब्रजभाषा के किसी शब्द का प्रयोग करना उसे अप्रतिष्ठित बनाना है । परन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं । ब्रजभाषा कोई पृथक् भाषा नहीं है, इस के अतिरिक्त उर्दू शब्दों से उसके शब्दों का हिन्दीभाषा पर विशेष स्वत्व है अतएव कोई कारण नहीं है कि उर्दू के शब्द तो निस्संकोच हिन्दी में गृहीत होते रहें, और बृजभाषा के उपयुक्त और मनोहर शब्दों के लिये भी उसका द्वार बन्द कर दिया जावे। मेरा विचार है कि खड़ी बोलचाल का रंग रखते हुए जहां तक उपयुक्त एवं मनोहर शब्द ब्रजभाषा के मिलें उनके लेने में संकोच न करना चाहिये। जब उर्दू भाषा सर्वथा बृजभाषा के शब्दों से अब तक रहित नहीं हुई तो हिन्दी भाषा उससे अपना सम्बन्ध कैसे विच्छिन्न कर सकती है। इसके व्यतीत मैं यह भी कहूंगा कि उपयुक्त और आवश्यक शब्द किसी भाषा का ग्रहण करने के लिये सदा हिन्दी

भाषा का द्वार उन्मुक्त रहना चाहिये, अन्यथा वह परिपुष्ट और विस्तृत होने के स्थान पर निर्बल और संकुचित हो जावेगी। सहृदय कवि भिखारी दास कहते हैं—

दोहा

तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।
इन के काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

इस सिद्धान्त द्वारा परिचालित हो कर मैंने ब्रजभाषा के सुमरता, बिलग, बगर इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी कहीं कहीं किया है, आशा है मेरा यह अनुचित साहस न समझा जायगा।

ह्रस्व वर्णों का दीर्घ बनाना।

संस्कृत का यह नियम है कि उसके पद्य में कहीं कहीं ह्रस्व वर्ण का प्रयोग दीर्घ की भांति किया जाता है। सहृदय-वर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के निम्नलिखित पद्य के उन शब्दों को देखिये, जिनके नीचे लकीर खिंची हुई है। प्रथम चरण के घ, द्वितीय चरण के श, तृतीय चरण के त्र, और चतुर्थ चरण के व' और ति ह्रस्ववर्णों का उच्चारण इन पद्यों के पढ़ने में दीर्घ की भांति होगा।

निदाघ ज्वाला से विचलित हुआ चातक अभी।
भुलाने जाता था निज विमल वंश-व्रत सभी॥
दिया पत्र द्वारा नवबल मुझे आज तुमने।
सुलाती हैं मेरे विदित कुल-देव गृह पति॥

इस प्रकार के प्रयोगों का व्यवहार यद्यपि हिन्दी भाषा में आज कल सफलता से हो रहा है, और लोगों का विचार है कि यदि संस्कृत के वृत्तों की खड़ी बोली के पद्य के लिये आवश्यकता है, तो इस प्रणाली के ग्रहण की भी आवश्यकता है, अन्यथा बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ेगा और एक सुविधा हाथ से जाती रहेगी। मैं इस विचार से सहमत

हूं परन्तु इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि जहां तक संभव हो, ऐसा प्रयोग कम किया जावे, क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग पद्य में एक प्रकार की जटिलता ला देता है। आप लोग देखेंगे कि ऐसे प्रयोगों से बचने की इस ग्रन्थ में मैंने कितनी चेष्टा की है।

दोषक्षालन चेष्टा।

इस ग्रन्थ के लिखने में शब्दों के व्यवहार का जो पथ ग्रहण किया गया है, मैंने यहां पर थोड़े में उसका दिग्दर्शन मात्र किया है। इस ग्रन्थ के गुण दोष के विषय में न तो मुझको कुछ कहने का अधिकार है, और न मैं इतनी क्षमता ही रखता हूं कि इस जटिल मार्ग में दो चार डेग भी उचित रीत्या चल सकूं। शब्ददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष और रसदोष इतने गहन हैं, और इतने सूक्ष्म इसके विचार एवं विभेद हैं, कि प्रथम तो उनमें यथार्थ गति होना असम्भव है, और यदि गति हो जावे, तो उसपर दृष्टि रख कर काव्य करना नितान्त दुस्तर है। यह धुरन्धर और प्रगल्भ विद्वानों की बात है, हमसे अबोधों की तो इस पथ में कोई गणना ही नहीं, "जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं"। श्रद्धेय स्वर्गीय पण्डित सुधाकर द्विवेदी' प्रथम हिन्दी साहित्यसम्मेलन के कार्य्य-विवरण के पृष्ठ ३७ में लिखते हैं—

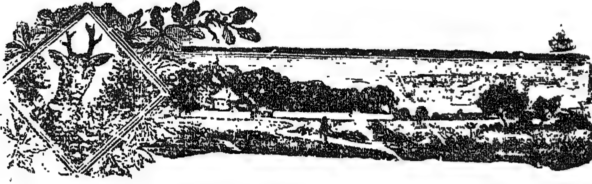
"हिन्दी और संस्कृत काव्यों में जितने भेद हैं, उन सब पर ध्यान देकर जो काव्य बनाया जावे तो शायद एकाध दोहा या श्लोक काव्यलक्षण से निर्दोष ठहरे।"

जब यह अवस्था है, तो मुझसे अल्पज्ञ का अपनी साधारण कविता को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा करना मूर्खता छोड़ और कुछ नहीं हो सकता। अतएव मेरी इन कतिपय पंक्तियों को पढ़ कर यह न समझना चाहिये कि मैंने इनको

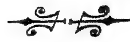
लिख कर अपने ग्रन्थ को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की है। प्रथम तो अपना दोष अपने को सूझता नहीं; दूसरे कविकर्म महा कठिन; ऐसी अवस्था में यदि कोई अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान भी ऐसी चेष्टा करे तो उसे उपहासास्पद होना पड़ेगा, मुझसे ज्ञानलव-दुर्विदग्ध की तो कुछ बात ही नहीं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण करने में जो उत्साह परमप्रिय, चिरंजीव, महाराजकुमार बाबू रामरणविजय सिंह, अध्यक्ष खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर और उनके प्रधान सहकारी बन्धुवर बाबू गोकर्ण सिंह ने दिखलाया है, अन्त में उसके विषय में उन सज्जनों को अनेक धन्यवाद देते हुए मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूं।

विनीत,
हरिऔध।



प्रिय प्रवास



प्रथम सर्ग



द्रुतविलम्बित छन्द

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अवराजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥ १ ॥

विपिन बीच विहंगम-बृन्द का।
कलनिनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा विहगावली।
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी ॥ २ ॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज हरीतिमा।
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥ ३ ॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी ।
गगन के तल की यह लालिमा ।
सरित औ सर के जल में पड़ी ।
अरुणता अतिही रमणीय थी ॥ ४ ॥
अचल के शिखरों पर जा चढ़ी ।
किरण पादप-शीश-विहारिणी ।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला ।
गगन-मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥ ५ ॥
ध्वनि-मयी कर के गिरि-कन्दरा ।
कलित- कानन-केलि निकुंज को ।
मुरलि एक बजी इस काल ही ।
तरणिजा-तट-राजित-कुंज में ॥ ६ ॥
क्वणित मंजु-विषाण हुए कई ।
रणित शृंग हुए बहु साथ ही ।
फिर समाहित-प्रान्तर-भाग में ।
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥ ७ ॥
कियत ही क्षण में वन-वीथिका ।
विविध-धेनु-विभूषित हो गई ।
धवल-धूसर-वत्ससमूह भी ।
समुद था जिनके सँग सोहता ॥ ८ ॥
जब हुई समवेत शनैः शनैः ।
सहित गो-गण मण्डलि-ग्वाल की ।
तब चली ब्रज-भूषण को लिये ।
वह अलंकृत-गोकुल-ग्राम को ॥ ९ ॥
गगन के तल गोरज छा गई ।
दश-दिशा बहु-शब्दमयी हुई ।

विशद-गोकुल के प्रति-गेह में।
बह चला बर-स्रोत बिनोद का ॥ १० ॥
दिन-समस्त समाकुल से रहे।
सकल-मानव गोकुल-ग्राम के।
अब दिनान्त बिलोकत ही बढ़ी।
व्रज-विभूषण-दर्शन-लालसा ॥ ११ ॥
सुन पड़ा स्वर ज्यों कल-बेणु का।
सकल-ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया।
तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥ १२ ॥
बय-वती युवती बहु-बालिका।
सकल बालक-वृद्ध-बयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से।
स्वदृग का दुख-मोचन के लिये ॥ १३ ॥
इधर गोकुल से जनता कढ़ी।
उमगती अति आनँद में पगी।
उधर आ पहुँची बलबीर की।
विपुल-धेनु-विमंडित-मण्डली ॥ १४ ॥
ककुभ-शोभित गोरज बीच से।
निकलते व्रज-वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों कर के दिशि-कालिमा।
विलसता नभ में नलिनीश है ॥ १५ ॥
अतसि-पुष्प अलंकृतकारिणी।
सुछवि नील-सरोरुह वर्द्धिनी।
नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की।
सजल-नीरद सी कल-कान्ति थी ॥१६॥

अति-समुत्तम अंग समूह था ।
मुकुर-मंजुल औ मनभावना ।
सतत थी जिस में सुकुमारता ।
सरसता प्रतिबिम्बित हो रही ॥ १७॥
बिलसता कटि में पट पीत था ।
रुचिर-वस्त्र-विभूषित गात था ।
लस रही उर में बनमाल थी ।
कल-दुकूल-अलंकृत कंध था ॥ १८ ॥
मकर-केतन के कल-केतु से ।
लसित थे बर-कुण्डल कान में ।
घिर रही जिनके सब ओर थी ।
विविध-भावमयी अलकावली ॥ ॥१६
मुकुट था शिर का शिखि-पुच्छ का ।
अति-मनोहर मण्डित माधुरी ।
असित रत्न समान सुरंजिता ।
सतत थी जिसकी वर-चन्द्रिका ॥२० ॥
विशद उज्ज्वल-उन्नत भाल में ।
बिलसती कल केसर-खौर थी ।
असित-पंकज के दल में लसे ।
रज-सुरंजित पीत-सरोज ज्यों ॥ २१ ॥
मधुरिमा-मय था मृदु-बोलना ।
अमिय-सिंचित सी मुसकान थी ।
समद थी जन-मानस मोहती ।
कमल-लोचन की कमनीयता ॥२२॥
सबल-जानु-बिलम्बित बाहु थी ।
अति-सुपुष्ट-समुन्नत वक्ष था ।

बय-किशोर-कला लसितांग था ।
मुख प्रफुल्लित पद्म-समान था ॥ २३॥
सरस-राग-समूह सहेलिका ।
सहचरी सब मोहन-मंत्र की ।
रसिकता-जननी कल-नादिनी ।
मुरलि थी कर में मधुवर्षिणी ॥ २४ ॥
छलकती मुख की छवि-पुंजता ।
छिटकती छिति पै तन की छटा ।
बगरती बर दीप्ति दिगन्त में ।
छितिज की छनदा-कर कान्ति लौं ॥२५॥
मुदित गोकुल की जन-मण्डली ।
जब ब्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी ।
निरखने मुख की छवि यों लगी ।
तृषित-चातक ज्यों घन की घटा ॥२६॥
पलक लोचन की पड़ती न थी ।
हिल नहीं सकता तन-लोम था ।
छवि-रता बहु कामिनि यों बनी ।
गठित-पाहन-पुत्तलिका यथा ॥२७॥
उछलते शिशु थे अति हर्ष से ।
युवक थे रस की निधि लूटते ।
जरठ को फल लोचन का मिला ।
निरख के सुखमा सुखमूल की ॥२८॥
बहु-बिनोदित थीं ब्रज-बालिका ।
तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़ती ।
बलि गईं बहु बार बयोवती ।
लख अनूपमता ब्रज-चन्द की ॥२९॥

मुरलिका कर-पंकज में लसी ।
जब अचानक थी बजती कभी ।
तब अनूप-पियूष-प्रवाह में ।
जन-समागम था अवगाहता ।। ३० ।।
ढिग सुशोभित श्रीबलराम थे ।
निकट गोप-कुमार-समूह था ।
विविध रंगवती-गरिमामयी ।
सुरभि थीं सब ओर विराजती ।।३१।।
बज रहे बहु-शृंग-विषाण थे ।
क्वणित हो उठता बर-बेणु था ।
सरस-राग-समूह अलाप से ।
रसवती-अति थी मुदिता-दिशा ।।३२ ।।
विविध-भाव-विमुग्ध बनी हुई ।
मुदित थी बहु दर्शक-मण्डली ।
तन-विभूषण कामिनि का किसी ।
अति मनोहर था बजता कभी ।। ३३ ।।
इधर था इस भाँति समा बँधा ।
उधर व्योम हुआ कुछ औरही ।
अब न था उस में रवि राजता ।
किरण भी न सुशोभित थी कहीं ।।३४।।
अरुणिमा-जगती-तल-रंजिनी ।
वहन थी करती अब कालिमा ।
मलिन थी नव-राग-मयी-दिशा ।
अवनि थी तमसावृत हो रही ।। ३५ ।।
तिमिर की यह भूतल-व्यापिनी ।
तरल-धार विकाश-विरोधिनी ।

जन-समूह-बिलोचन के लिये।
बन गई प्रति-मूर्त्ति बिराम की ॥ ३६ ॥
दुतिमती उतनी अब थी नहीं।
नयन की अति दिव्य कनीनिका।
अब नहीं वह थी अवलोकती।
मधुमयी छवि श्रीघनश्याम की ॥ ३७ ॥
यह अभावुकता तम-पुंज की।
सह सकी नहिं तारक-मण्डली।
वह बिकाश-बिबर्द्धन के लिये।
निकलने नभ-मण्डल में लगी ॥ ३८ ॥
तदपि दर्शक-लोचन-लालसा।
फलवती न हुई तिलमात्र भी।
नयन की लख के यह दीनता।
सकुचने सरसीरुह भी लगे ॥ ३९ ॥
खग-समूह न थे अब बोलते।
विटप थे सब नीरव हो गये।
मधुर मंजुल मत्त अलाप के।
अब न यंत्र बने तरु-वृन्द थे ॥ ४० ॥
विहग औ बिटपी-कुल मौनता।
प्रगट थी करती इस मर्म्म को।
श्रवण को वह नीरव थे बने।
करुण अंतिम-वादन वेणु का ॥ ४१ ॥
बिहग-नीरवता-उपरान्त ही।
रुक गया स्वर शृंग विषाण का।
कल-अलाप समापित हो गया।
पर रही बजती वर वंशिका ॥ ४२ ॥

विविध-मर्म्मभरी करुणामयी ।
ध्वनि बियोग-बिराग-विबोधिनी ।
कियत्-काल रही दिशि-व्यापिनी ।
फिर प्रभंजन में वह भी मिली ॥४३॥

ब्रज-धरा-जन जीवन-यंत्रिका ।
बिटप-बेलि-बिनोदित-कारिणी ।
मुरलिका जन-मानस-मोहिनी ।
अहह मज्जित नीरवता हुई ॥ ४४ ॥

प्रथम ही तम की करतूत से ।
छवि न लोचन थे अवलोकते ।
अब निनाद रुके कल-बेणु के ।
श्रवण पान न था करता सुधा ॥ ४५ ॥

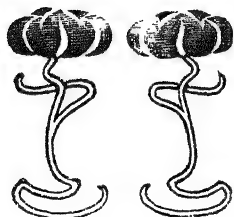
इस लिये रसना-जन-मण्डली ।
सरस-भाव समुत्सुकता पगी ।
ग्रंथन गौरव से करने लगी ।
ब्रज-बिभूषण की गुण-मालिका ॥४६॥

जब दशा यह थी जन-बृन्द की ।
जलज-लोचन थे तब जा रहे ।
सहित गोगण गोप-समूह के ।
अवनि-गौरव-गोकुल ग्राम में ॥ ४७ ॥

कियत काल हुई यह भी क्रिया ।
फिर हुआ इस का अवसान भी ।
प्रथम थी बहु धूम मची जहां ।
अब वहां बढ़ता सुनसान था ॥ ४८ ॥

कर विदूरित लोचन लालसा ।
नव पियूष पिला कर कान को ।

गुण-यमी रसना करके गये ।
स्वगृह को अब दर्शक-बृन्द भी ॥४९॥
प्रथम थी स्वर की लहरी जहां ।
पवन में अति मंजुल गूँजती ।
कल अलाप सुलावित था जहां ।
अब वहां पर नीरवता हुई ॥५०॥
विशद-चित्रपटी ब्रजभूमि की ।
रहित आज हुई बर चित्र से ।
छवि यहाँ पर अंकित जो हुई ।
अहह लोप हुई सब-काल को ॥ ५१ ॥



द्वितीय सर्ग ।

द्रुतविलम्बित छन्द ।

गत हुई अब थी द्वि-घटी निशा ।
तिमिर-पूरित थी सब मेदिनी ।
अति-अनूपमता सँग थी लसी
गगन के तल तारक-मालिका ॥ १ ॥

तम ढके तरु थे दिखला रहे ।
तमस-पादप से जन-बृन्द को ।
सकल गोकुल गेह-समूह भी ।
तिमिर-निर्मित सा इस काल था ॥ २ ॥

इस तमो-मय गेह-समूह का ।
अति-प्रकाशित सर्व-सुकक्ष था ।
विविध ज्योति-निधान-प्रदीप थे ।
तिमिर-व्यापकता हरते जहां ॥ ३ ॥

इस प्रभा-मय-मंजुल-कक्ष में ।
सदन की करके सिगरी क्रिया ।
कथन थीं करती कुल-कामिनी ।
कलित कीर्ति ब्रजाधिप-तात की ॥ ४ ॥

सदन-सम्मुख के कल ज्योति से ।
ज्वलित थे जितने वर-बैठके ।
पुरुष-जाति वहां समवेत हो ।
सुगुण-वर्णन में अनुरक्त थी ॥ ५ ॥

रमणि के सँग में वर बालिका ।
पुरुष के सँग बालक-मण्डली ।

"अमित-बिक्रम कंश नरेश ने।
धनुष-यज्ञ बिलोकन के लिये।
कल समादर से ब्रज-भूप को।
कुँवर संग निमंत्रित है किया ॥ १३ ॥

यह निमंत्रण लेकर आज ही।
सुत-स्वफल्क समागत हैं हुए।
मधुपुरी कल के दिन प्रात: ही।
गमन भी अवधारित हो चुका ॥ १४ ॥

इस सुविस्तृत-गोकुल ग्राम में।
निवसते जितने बर गोप हैं।
सँग उन्हें उपढौकन आदि ले।
उचित है चलना मथुरा-पुरी ॥ १५ ॥

इसलिये यह भूपनिदेश है।
सकल-गोप समाहित हो सुनो।
सब प्रबन्ध हुआ निशि में रहे।
कल प्रभात हुए न बिलम्ब हो ॥१६॥

कियत ही क्षण में यह घोषणा।
रजनिअंक-कलंकित-कारिणी।
मृदु-समीरण के सहकार से।
सकल गोकुल-ग्राममयी हुई ॥ १७ ॥

कमल-लोचन-कृष्ण-वियोग की।
अशनि-पात-समा यह सूचना।
परम-आकुल-गोकुल के लिये।
अति-अनिष्टकरी-घटना हुई ॥ १८ ॥

चकित भीत अचेतन सी बनी।
कँप उठी सिगरी जन-मण्डली।

कुटिलता करके सुधि कंस की।
प्रबल और हुई उर बेदना ॥ १९ ॥
कुछ घड़ी पहले जिस भूमि में।
प्रवहमान प्रमोद-प्रवाह था।
अब उसी रस-स्रावित भूमि में।
बह चला खर श्रोत बिषाद का ॥२०॥
कर रहे जितने कल गान थे।
तुरत वे अति-कुण्ठित हो उठे।
अब अलाप अलौकिक कंठ के।
ध्वनित थे करते न दिगन्त को ॥२१॥
उतर तार गये बहुबीन के।
मधुरता न रही मुरजादि में।
विवशता-बश बादक-बृन्द की।
गिर गया कर का करताल भी ॥२२॥
सकल-कामिनी की कल-कंठता।
परम दारुण-कातरता बनी।
हृदय की उनके बहु-लालसा।
बिबिध-तर्क वितर्क-मयी हुई ॥२३॥
दुख भरी बहु-कुत्सित-भावना।
मथन मानस को करने लगी।
करुण-स्रावित लोचन कोण में।
झलकने जल के कण भी लगे ॥२४॥
नव-उमंग-मयी सब बालिका।
मलिन और सशंकित हो गईं।
अति-प्रफुल्लित बालक बृन्द का।
बदन-मण्डल भी कुम्भला गया ॥२५॥

ब्रज-धराधिप तात प्रभात ही ।
कल हमें तज के मथुरा चले ।
असहनीय जहाँ सुनिये वहीं ।
बस यही चरचा इस काल थी ॥२६॥

सब परस्पर थे कहते यही ।
कमल-नेत्र निमंत्रित क्यों हुए ।
सहित बान्धव केवल नन्द का ।
गमन ही, सब भाँति यथेष्ट था ॥२७॥

पर निमंत्रित जो प्रिय हैं हुए ।
कपट भी इसमें कुछ है सही ।
दुरभिसंधि नृशंस-नृपाल की ।
अब न है ब्रज-मण्डल में छिपी ॥२८॥

वश नहीं चलता विधि-वाम से
कुछ बुरे दिन हैं ब्रज भूमि के ।
हम सभी अतिही-हतभाग्य हैं ।
उपजती नित जो नव व्याधि हैं ॥२९॥

किस परिश्रम और प्रयत्न से ।
कर सुरोत्तम की परिसेवना ।
इस जराजित-जीवन-काल में ।
महर ने सुत का मुख है लखा ॥३०॥

सुअन भी सुर विप्र प्रसाद से ।
अति अपूर्व अलौकिक है मिला ।
निज गुणावलि से इस काल जो ।
ब्रज-धरा-जन जीवन-प्राण है ॥३१॥

पर बड़े दुख की यह बात है ।
विपत जो अब भी टलती नहीं ।

अहह है कहते बनती नह ।
हृदय-दग्धकरी सिगरी व्यथा ॥ ३२ ॥
जनम की तिथि से बलवीर की ।
बहु-उपद्रव हैं ब्रज में हुए ।
बिकटता जिन की नहीं आज भी ।
हृदय से अपसारित हो सको ॥ ३३ ॥
परम-पातक की प्रतिमूर्ति सी ।
अति अपावन पापिन-पूतना ।
पय-अपेय, पिला कर श्याम को ।
कर चुकी ब्रज-भूमि बिनाश थी ॥ ३४ ॥
पर किसी चिर-संचित-पुण्य से ।
गरल अमृत अर्भक को हुआ ।
विष-मयी वह हो कर आप ही ।
कवल काल-भुजंगम का हुई ॥ ३५ ॥
फिर अचानक धूलिमयी महा ।
दिवस एक प्रचंड हवा चली ।
श्रवण से जिस की गुरु-गर्जना ।
कँप उठीं सहसा सब दिग्वधू ॥ ३६॥
उपल वृष्टि हुई तम छा गया ।
पट गई महि कंकर-पात से ।
गड़गड़ाहट बारिद-व्यूह क
ककुभ में परिपूरित हो गई ॥ ३७ ॥
उखड़ पेड़ गये जड़ से कई ।
गिर पड़ीं अवनी पर डालियाँ ।
शिखर भग्न हुए उजड़ीं छतें ।
हिल गये सब पुष्ट निकेतन भी ॥ ३८ ॥

मुख समस्त रजोमय हो गया।
भर गये युग-लोचन धूलि से।
पवन-वाहित-पांशु-प्रहार से।
गत बुरी ब्रज मानव की हुई ॥ ३९ ॥

घिर गया इतना तम-तोम था।
दिवस था जिस से निशि हो गया।
स्वन प्रभंजन औ घन-नाद से।
कँप रही ब्रज-भूमि समस्त थी ॥ ४० ॥

प्रकृति थी जब यों कुपिता महा।
हरि अदृश्य अचानक हो गये।
सदन में जिस से ब्रज-भूप के।
अति भयानक-क्रन्दन हो उठा ॥ ४१ ॥

सकल गोकुल था यक तो दुखी।
प्रबल बेग प्रभंजन आदि से।
अब दशा सुन के नँद सद्म की।
पवि-समाहत सा वह हो गया ॥ ४२ ॥

पर व्यतीत हुए द्विघटी नसी।
यह तृणावरतीय विडम्बना।
पवन बेग रुका तम भी हटा।
जलद-जाल तिरोहित हो गया ॥४२ ॥

प्रकृति शान्त हुई वर व्योम में।
चमकने रवि की किरणें लगीं।
निकट ही निज सुन्दर सद्म के।
किलकते हँसते हरि भी मिले ॥ ४४ ॥

अति पुरातन-पुण्य ब्रजेश का।
उदय था इस काल स्वयं हुआ।

पतित हो कर वायु-प्रचंड में।
कुसुम-कोमल बालक जो बचा ॥४५॥
शकट-पात ब्रजाधिप पासही।
पतन अर्जुन-वृत्त-बिसाल का।
पकड़ना निज चंचु-कराल से।
बक भयानक का बलवीर को ॥४६॥
वधन-उद्यम दुर्जय-वत्स का।
कुटिलता अघ-संज्ञक-सर्प की।
विकट घोटक की अपकारिता।
हरि निपातन यत्न अरिष्ट का ॥४७॥
कपट-रूप-प्रलम्ब प्रवंचना।
खलपना-पशुपालक-व्योम का।
यह समस्त महान अनर्थ थे।
ब्रज-बिभूषण हैं जिन से बचे ॥४८॥
पर दुरन्त-नराधिप कंस ने।
अब कुचक्र भयंकर है रचा।
युगल-बालक संग ब्रजेश जो।
कल निमंत्रित हैं मख में हुए ॥४९॥
गमन जो न करें बनती नहीं।
गमन से सब भांति बिपत्ति है।
जटिलता इस कौशल जाल की।
अहह है अति कष्ट-प्रदायिनी ॥५०॥
प्रणतपाल कृपानिधि श्रीपते।
फलद हैं प्रभु के पद-पद्म ही।
दुख-पयोनिधि-मग्न मनुष्य को।
जग वही परमोत्तम पोत हैं ॥५१॥

विषम संकट में ब्रज है पड़ा ।
पर हमें अवलम्बन हैं वही ।
निबिड़ पामरता, तम हो चला ।
पर प्रभो बल है नख ज्योति का ॥५२॥

बिपति ज्यों अबलौं कितनी टली ।
प्रभु कृपाबल त्यों यह भी टले ।
हम दुखी जन का करुणानिधे ।
अति विनीत निवेदन है यही ॥५३॥

ब्रज-विभाकर ही अवलम्ब हैं ।
हम सशंकित प्राणि-समूह के ।
यदि हुआ कुछ भी प्रतिकूल तो ।
ब्रज-धरा तमसावृत हो चुकी ॥५४॥

पुरुष यों करते अनुताप थे ।
अधिक था इससे दुख बाम का ।
वह समस्त-बिषाद-मयी बनी ।
विपुल थीं दृग-बारि बिमोचती ॥५५॥

दुख प्रकाशन का क्रम नारिका ।
अधिक था नर के अनुसार ही ।
पर बिलाप-कलाप . बिसूरना ।
बिलखना उन में अतिरिक्त था ॥५६॥

ब्रज-धरा-जन की निशि साथ ही ।
विकलता परिबर्धित हो चली ।
तिमिर के सँग शोक-समूह भी ।
प्रबल था पलही पल हो रहा ॥५७॥

विषद-गोकुल बीच बिषाद की ।
अति-असंयत जो लहरें उठीं ।

बहु बिवर्द्धित हो निशिमध्य ही।
ब्रज-धरा बिच व्यापित वे हुईं ॥५८॥
बिलसती अब थी न प्रफुल्लता।
न वह हाँस बिलास बिनोद था।
हृदय कम्पित थी करती महा।
दुखमयी ब्रज-भूमि-बिभीषिका ॥५९॥
तिमिर था घिरता बहु नित्य ही।
पर घिरा तम जो निशि आज की।
वह विषाद-तमिस्र अहो कभी।
रहित हो न सका ब्रज-भूमि से ॥६०॥
बहु-भयंकर थी यह यामिनी।
ब्रज-धरा अति-आकुल के लिये।
तिमिर में जिसके उनका शशी।
बहु-कला युत होकर खो चला ॥६१॥
घहरती घिरती दुख की घटा।
यह अचानक जो निशि में उठी।
वह धरा-ब्रज में चिरकाल लौं।
बरसती मिस लोचनबारि थी ॥६२॥
ब्रज-धरा-जन के उर आज जो।
बिरह-जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उस को कभी।
नयन का बहु-बारि-प्रवाह भी ॥६३॥
सुखद थे बहु जो जन के लिये।
फिर नहीं ब्रज वे दिन भी फिरे।
मलिनता न समुज्ज्वलता हुई।
दुखनिशा न हुई सुख की निशा ॥६४॥

तृतीय सर्ग।

द्रुतविलम्बित छन्द।

समय था सुनसान निशीथ का।
अटल भूतल में तम-राज्य था।
प्रलय-काल समान प्रसुप्त हो।
प्रकृति निश्चल, नीरव, शान्त थी ॥ १ ॥

परम-धीर समीर-प्रवाह था।
वह मनों कुछ निद्रित था हुआ।
गत हुई अथवा अति-धीर थी।
प्रकृति को सुप्रसुप्त बिलोक के ॥ २ ॥

सकल-पादप नीरव थे खड़े।
हिल नहीं सकता यक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही।
पतित था अवनी पर हो रहा ॥ ३ ॥

विविध-शब्द-मयी बन की धरा।
अति-प्रशान्त हुई इस काल थी।
ककुभ औ नभ-मण्डल में कहीं।
रह गया रव का नहिं लेश था ॥ ४ ॥

सकल-तारक भी चुपचाप ही।
बितरते अवनी पर ज्योति थे।
बिकटता जिस से तम-तोम की।
कियत थी अपसारित हो रही ॥ ५ ॥

अवश तुल्य पड़ा निशि अंक में।
अखिल-प्राणि-समूह अवाक था।
तरु-लतादिक बीच प्रसुप्ति की।
प्रबलता प्रतिबिम्बित थी हुई ॥ ६ ॥

रुक गया सब कार्य्य-कलाप था ।
बसुमती-तल भी अति-मूक था ।
सचलता सिगरी तज के मनों ।
जगत था थिर हो कर सो रहा ॥ ७ ॥
सतत शब्दित गेह समस्त में ।
बिजनता परिबर्द्धित थी हुई ।
कुछ विनिद्रित हो जिनमें कहीं ।
झनकता यक झींगुर भी न था ॥८॥
बदन से तज के मिस धूम के ।
शयन-सूचक श्वास-समूह को ।
झलमलाहट-हीन-शिखा लिये ।
परम-निद्रित सा गृह-दीप था ॥९॥
भनक थी निशि-गर्भ तिरोहिता ।
तम-निमज्जित आहट थी हुई ।
निपट नीरवता सब ओर थी ।
गुण-विहीन हुआ जनु व्योम था ॥१०॥
इस तमोमय मौन निशीथ की ।
सहज-नीरवता महि-व्यापिनी ।
कलुषिता ब्रज-मेदिनि के लिये ।
तनिक थी न विरामप्रदायिनी ॥११॥
दलन थी करती उस को कभी ।
रुदन की ध्वनि दूर समागता ।
वह कभी बहु थी प्रतिघातिता ।
जन-विबोधक-कर्कश-शब्द से ॥१२॥
कल प्रयाण निमित्त जहाँ तहाँ ।
बहन जो करते बहु वस्तु थे ।

श्रम-स्वना उन का रव-उच्च भी ।
कर रहा निशि-शान्ति विनाश था ॥१३॥
प्रगटती बहु भीषण मूर्ति थी ।
कर रहा भय नृत्य कराल था ।
बिकट दन्त भयंकर प्रेत भी ।
बिचरते तरु मूल समीप थे ॥१४॥
बदन व्यादन पूर्वक प्रेतिनी ।
भय-प्रदर्शन थी करती महा ।
निकलती जिससे अविराम थी ।
अनल की अति त्रासकरी-शिखा ॥१५॥
तिमिर लीन-कलेवर को लिये ।
बिकट-दानव पादप थे बने
भ्रममयी जिन की बिकरालता ।
चित प्रकम्पित थी करती महा ॥१६॥
अति-सशंकित और सभीत हो ।
मन कभी यह था अनुमानता ।
ब्रज समूल बिनाशन को खड़े ।
यह निशाचर हैं नृप-कंस के ॥१७॥
अति भयानक भूमि मसान की ।
बहन थी करती शव राशि को ।
बहु-बिभीषणता जिन की कभी ।
दृग नहीं सकते अवलोक थे ॥ १८ ॥
बिकट दन्त दिखाकर खोपड़ी ।
कर रही अति-भैरव हाँस थी ।
बिपुल अस्थि-समूह बिभीषिका ।
बपन थी करती रस रौद्र को ॥१९॥

इस भयंकर-घोर-निशीथ में।
बिकलता अति-कातरता-मयी।
विपुल थी परिबर्द्धित हो रही।
निपट-नीरव नन्द-निकेत में ॥२०॥

सित हुए अपने मुख-लोम को।
कर गहे दुखव्यंजक भाव से।
बिषम संकट बीच पड़े हुये।
बिलखते चुपचाप ब्रजेश थे ॥२१॥

हृदय-निर्गत वाष्प समूह से।
सजल थे युग-लोचन हो रहे।
बदन से उन के चुपचाप ही।
निकलती अति-तप्त उसास थी ॥२२॥

शयित हो अति चंचल-नेत्र से।
छत कभी वह थे अवलोकते।
टहलते फिरते स-बिषाद थे।
वह कभी निज निर्जन कक्ष में ॥२३॥

जब कभी बढ़ती उर की व्यथा।
निकट जा करके तब द्वार के।
निरखते वह नीरव व्योम थे।
निशि-घटी अवधारण के लिये ॥२४॥

सब-प्रबन्ध प्रभात-प्रयाण के।
यदपि थे रव-वर्जित हो रहे।
तदपि रोपड़ती सहसा रहीं।
बिबिध-कार्य्य-रता गृहदासियाँ ॥२५॥

जब कभी यह रोदन कान में।
ब्रज-धराधिप के पड़ता रहा।

तड़पते तब यों वह तल्प पै ।
निशित-शायक-विद्ध जनों यथा ॥२६॥
व्रज-धरा-पति कक्ष समीप ही ।
निपट-नीरव कक्ष द्वितीय में ।
समुद थे व्रज-वल्लभ सो रहे ।
अति-प्रफुल्ल मुखांबुज मंजु था ॥२७॥
निकट तल्प सुकोमल श्याम के ।
कलपती जननी उपविष्ट थी ।
अति-असंयत अश्रुप्रवाह से ।
बदन-मण्डल प्लावित था हुआ ॥२८॥
हृदय में उन के उठती रही ।
इस घड़ी बहु-कुत्सित-भावना ।
विपुल-व्याकुल थीं वह हो रही ।
जटिलता-वश कौशल-जाल की ॥२९॥
वह कभी बनती अति मत्त थीं ।
सुअन प्रात-प्रयाण प्रसंग से ।
व्यथित था उन को करता कभी ।
परम-त्रास महीपति-कंस का ॥३०॥
पट हटा सुत के मुख कंज की ।
विकचता जब थीं अवलोकती ।
विवश सी तब थीं फिर देखती ।
सरलता, मृदुता, सुकुमारता ॥३१॥
तदुपरान्त नृपाधम-नीति की ।
अति भयंकरता जब सोचतीं ।
निपतिता तब हो कर भूमि में ।
वह विलाप महा करती रहीं ॥३२॥

हरि न जाग उठें इस शोच से।
सिसिकती तक भी नहिं वे रहीं।
इसलिये उन का दुख-वेग से।
हृदय था शतधा अब हो रहा ॥३३॥

महरि का यह कष्ट बिलोक के।
धुन रहा शिर गेह-प्रदोप था।
सदन में परिपूरित दीप्ति थी।
सतत थी महि-लुंठित हो रही ॥३४॥

पर बिना इस दीपक-दीप्ति के।
इस घड़ी इस नीरव-कक्ष में।
महरि का न प्रबोधक और था।
इसलिये अति पीड़ित वे रहीं ॥३५॥

बरन कम्पित-शीश प्रदीप भी।
कर रहा उन को बहु-व्यग्र था।
अति-समुज्वल-सुन्दर-दीप्ति भी।
मलिन थी अतिही लगती उन्हें ॥३६॥

जब कभी घटता दुख-वेग था।
तब नवा कर वे निज-शीश को।
महि विलम्बित हो कर जोड़ के।
बिनय यों करती चुपचाप थीं ॥३७॥

सकल-मंगल-मूल कृपानिधे।
कुशलतालय हे कुल-देवता।
बिपत-संकुल है कुल हो रहा।
विपुल वांछित है अनुकूलता ॥३८॥

परम-कोमल-बालक श्याम हो।
बिनसते कुल का यक चिह्न है।

पर प्रभो ! उस के प्रतिकूल भी ।
अति-प्रचंड-समीरण है उठा ॥३९॥
यदि हुई न कृपा पद-कंज की ।
टल नहीं सकती यह आपदा ।
मुझ सशंकिनि को सब काल ही ।
पद-सरोरुह का अवलम्ब है ॥४०॥
कुल विवर्द्धन पालन ओर ही ।
प्रभु रही भवदीय सुदृष्टि है ।
यह सुमंगल मूल सुदृष्टि ही ।
अति अपेक्षित है इस काल भी ॥४१॥
समझ के अब लौं यह सेविका ।
कर सकी अपराध कभी नहीं ।
पर शरीरिणि हो सब भांति मैं ।
निरपराधिनि हो सकती नहीं ॥४२॥
इस लिये मुझ से अनजान में ।
यदि हुआ कुछ भी अपराध हो ।
वह सभी इस संकट-काल में ।
कुलपते ! सब ही विधि क्षम्य है ॥४३॥
प्रथम तो सब काल अबोध की ।
सकल चूक उपेक्षित है हुई ।
फिर सदाशयता प्रभु सामने ।
परम तुच्छ सभी अपराध हैं ॥४४॥
सरलता-मय-बालक श्याम तो ।
निरपराध, नितान्त-निरीह है ।
इस लिये इस काल दयानिधे ।
वह अतीव-अनुग्रह-पात्र है ॥४५॥

मालिनी छन्द

प्रमुदित मथुरा के मानवों को बना के।
सकुशल रह के औ विघ्नबाधा नसा के।
निजप्रिय सुत दोनों साथ लेके सुखी हो।
जिस दिन पलटेंगे सद्म स्वामी हमारे ॥४६॥

प्रभु दिवस उसी मैं सात्त्विकी रीति द्वारा।
परम शुचि बड़े ही दिव्य आयोजनों से।
विधिसहित करूंगी मंजु पादाब्ज-पूजा।
उपकृत अति होके आप की सत्कृपा से ॥४७॥

द्रुतविलम्बित छन्द

यह प्रलोभन है न कृपानिधे।
यह अकोर प्रदान न है प्रभो।
बरन है यह कातर-चित्त की।
परम-शान्तिमयी-अवतारना ॥४८॥

कलुष-नाशिनि दुष्ट-निकंदिनी।
जगत की जननी जगदम्बिके।
जननि के जिय की सिगरी व्यथा।
जननि ही जिय है कुछ जानता ॥४९॥

जनमना अवनी पर नारि का।
बिफल है करती अनपत्यता
सहज जीवन का उस के सदा।
वह सकंटक है करनी नहीं ॥५०॥

उपजती पर जो उर-व्याधि है।
सतत संतति संकट-शोच से।

वह सकंटक ही करती नहीं।
बरन जीवन है करती वृथा ॥५१॥
यदपि चिन्तित थी बहु सेविका।
प्रथम भी यक संतति के लिये।
पर निरन्तर संतति-कष्ट से।
हृदय है अब जर्जर हो रहा ॥५२॥
जननि जो उपजी उर में दया।
जरठता लख के निज दास की।
यदि बनी बड़भागिनि किंकरी।
तव कृपाबल पा कर पुत्र को ॥५३॥
किस लिये अब तो यह सेविका।
नित निपीड़ित है बहु हो रही।
किस लिये, तव बालक के लिये।
उमड़ती नित है दुख की घटा ॥५४॥
बिन प्रयोजन जो जन और को।
दुखित पीड़ित है करता सदा।
दलन को उस को भव-बल्लभे!
अब न क्या बल है तव बाहु में ॥५५॥
स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के।
दलन की यह निर्म्मम प्रार्थना।
बहुत संभव है यदि यों कहें।
सुन नहीं सकती 'जगदम्बिका' ॥५६॥
पर निवेदन है यह ज्ञानदे!
इस गरीबिनि की दिशि न्याय है
नियम शालिनि क्या अवमानना।
उचित है विधि-सम्मत-न्याय की ॥५७॥

परम क्रूर-महीपति-कंस की।
कुटिलता अब है अति कष्टदा।
कपट-कौशल से अब नित्य ही।
बहुत-पीड़ित है ब्रज की प्रजा ॥५८॥

सरलता-मय-बालक के लिये।
जननि! जो अब कौशल है हुआ।
सह नहीं सकता उस को कभी।
गठित-पाहन मानव-प्राण भी ॥५९॥

कुवलया सम मत्त-गजेन्द्र से।
भिड़ नहीं सकते दनुजात भी।
वह महा सुकुमार कुमार से।
रण-निमित्त सुसज्जित है हुआ ॥६०॥

विकट-दर्शन कज्जल-मेरु सा।
गज-सुरेन्द्र समान पराक्रमी।
द्विरद क्या जननी उपयुक्त है।
यक पयो-मुख बालक के लिये ॥६१॥

व्यथित हो कर क्यों बिलखूं नहीं।
अहह धीरज क्योंकर मैं धरूं।
मृदुल-सारँग शावक से कभी।
पतन हो सकता नहिं शैल का ॥६२॥

विदित है बल, बज्र-शरीरता।
बिकटता शल तोशल कूट की।
निपुण है अति मुष्टि-प्रहार में।
प्रबल मुष्टिक संज्ञक मल्ल भी ॥६३॥

पृथुल-भीम-शरीर भयावने।
अपर हैं जितने मल कंस के।

सब नियोजित हैं रण के लिये।
यक किशोरवयस्क कुमार से ॥६४॥
बिपुल वीर सजे बहु-अस्त्र से।
नृपति कंस स्वयं निज शस्त्र ले।
बिबुध-बृन्द बिलोड़िनि शक्ति से।
शिशु बिरुद्ध समुद्यत हैं हुये ॥६५॥
जिस नरा-धिप की बशबर्तिनी।
सकल भाँति निरन्तर है प्रजा।
जननि यों उस का कटिबद्ध हो।
कुटिलता करना अविधेय है ॥६६॥
जन प्रपीड़ित हो कर अन्य से।
शरण है गहता नरनाथ की।
यदि निपीड़न भूपतिही करे।
फिर भला जग-रक्षक कौन है ? ॥६७॥
गगन में उड़ जा सकती नहीं।
गमन संभव है न पताल का।
धरणि-बीच पलायित हो कहीं।
बच नहीं, सकती नृप-कंस से ॥६८॥
बिबशता कब लौं अपनी कहूं।
जननि ! क्यों नहिं कातर मैं बनूं ?
प्रबल-हिंस्रक-जन्तु-समूह में।
अबश हो मृग-सावक है चला ॥६९॥
सकल भाँति हमें अब अम्बिके।
चरण-पंकज ही अवलम्ब है।
शरण जो न यहाँ जन को मिली।
जननि, तो जगतीतल शून्य है ॥७०॥

विधि अहो भवदीय-विधान की।
मति-अगोचरता बहु-रूपता।
यदपि है जग-युक्ति-मयी महा।
पर कहीं वह है अति कष्टदा ॥७१॥

जग कहीं यक संतति के लिये।
बिनसता सुर-वांछित राज्य है।
अधिक संतति है इतनी कहीं।
बसन भोजन दुर्लभ है जहां ॥७२॥

कलपते कितने बसुयाम हैं।
बदन पुत्र विलोकन के लिये।
बिपुलता निज संतति से कहीं।
बिकल हैं बहु मानव हो रहे ॥७३॥

सुअन का बदनांबुज देख के।
पुलकते कितने जन हैं सदा।
बिलखते कितने सब काल हैं।
निरख के सुख-तात मलीनता ॥७४॥

सुखित हैं कितनी जननी सदा।
निज निरापद संतति देख के।
दुखित हैं मुझ सी कितनी प्रभो।
नित बिलोक स्वसंतति आपदा ॥७५॥

प्रभु, कभी भवदीय बिधान में।
यदपि अन्तर हो सकता नहीं।
यह निवेदन तदपि नाथ से।
सभय है करती तव सेविका ॥७६॥

यदि कभी प्रभु दृष्टि कृपामयी।
पतित हो सकती महि-मध्य हो।

इस घड़ी उस की अधिकारिणी।
मुझ अभागिनी सी नहिं अन्य है ।।७६।।
प्रकृति प्राणस्वरूप जगत्पिता।
अखिल-लोकपते प्रभुता-निधे।
सब क्रिया कब सांग हुई वहां।
प्रभु जहां न हुई पद-अर्चना ।।७७।।
यदपि विश्व समस्त-प्रपंच से।
पृथक से रहते नित आप हैं।
पर कहां जन को जग त्राण है।
प्रभु गहे पद-पंकज के बिना ।।७८।।
बिबिध-निर्जन में बहु-रूप से।
यदपि है जगती प्रभु की कला।
यजन पूजन से प्रति-देव के।
यदपि पूजित हैं प्रभु आप ही ।।८०।।
तदपि जो सुर-पादप के तले।
पहुंच के लहता जन शान्ति है।
वह कभी दल फूल फलादि से।
मिल नहीं सकती जगतीपते ।।८१।।
झलकती तव ज्योति-अपूर्व है।
तरणि से तृण लौं करुणामयी।
किरण एक इसी कल-ज्योति की।
तम-निवारण में क्षण है प्रभो ।।८२।।
अवनि में जल में वर व्योम में।
उमड़ता प्रभु-प्रेम-समुद्र है।
कण इसी वरवारिधि बूंद का।
शमन में मम ताप समर्थ है ।।८३।।

अधिक और निवेदन नाथ से।
कर नहीं सकती यह किंकरी।
गति न है करुणाकर से छिपी।
हृदय की मन की मम-प्राण की ॥८४॥

विनय यों करती नँदरानि थीं।
नयन से बहती जलधार थी।
विकलतावश वस्त्र हटा हटा।
बदन थीं सुत का अवलोकती ॥८५॥

शार्दूल विक्रीडित छन्द।

ज्यों ज्यों थी रजनी व्यतीत करती औ देखती व्योम को।
त्यों ही त्यों उनका प्रगाढ़ दुख भी दुर्दान्त था हो रहा।
आँखों से अविराम अश्रु बह के था शान्ति देता नहीं।
बारम्बार अशक्त-कृष्ण-जननी थीं मूर्छिता हो रही ॥८६॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

विकलता लख के ब्रज-देवि की।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु-वारि था ॥८७॥

विपुल-नीर बहा कर नेत्र से।
मिस कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।
परम-कातरता सँग मौन ही।
रुदन थी करती ब्रज की धरा ॥८८॥

युग बनी सकती नहिं बीत थी।
अप्रिय था अति, किंचित बीतना।
विकट थी नँद-भामिनि के लिये।
दुखमयी यह घोर विभावरी ॥८९॥

चतुर्थ सर्ग।

द्रुतविलम्बित छन्द

विशद-गोकुल-ग्राम समीप ही।
बहु-बसे यक सुन्दर-ग्राम में।
स्वपरिवार समेत उपेन्द्र से।
निवसते वृषभानु-नरेश थे ॥१॥

यह प्रतिष्ठित-गोप सुमेरु थे।
अधिक-आदृत थे नृप-नन्द से।
ब्रज-धरा इन के धन-मान से।
अवनि में अति-गौरविता रही ॥२॥

यक सुता उन की अति-दिव्य थी।
रमणि-वृन्द-शिरोमणि राधिका।
सुयश-सौरभ से जिन के सदा।
ब्रज-धरा बहु-सौरभवान थी ॥३॥

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वङ्गी कल-हाँसिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी।
श्रीराधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य्य-सन्मूर्त्ति थीं ॥४॥

फूले कंज-समान मंजु-दृगता थी मत्तता-कारिणी।
सोने सी कमनीय-कान्ति तन की थी दृष्टि-उन्मेषिनी।
राधा की मुसुकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्ति सी।
काली-कुंचित-लम्बमान-अलकें थीं मानसोन्मादिनी ॥५॥

नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू-भंगिमा-पंडिता।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणाभूषिता।
राधा थीं सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आन्दोलिता ॥६॥

लाली थी करती सरोज-पग की भूपृष्ठ को भूषिता।
बिम्बा विद्रुम आदि की निदरती थी रक्तता ओष्ठ की।
हर्षोत्फुल्ल-मुखारविन्द-गरिमा सौंदर्य्यआधार थी।
राधे की कमनीय-कान्ति छवि थी कामांगना मोहिनी ॥७॥

सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता-सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी-वृद्ध-जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिता।
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति-रत्नोपमा ॥८॥

द्रुतविलंबित छन्द

यह विचित्र-सुता वृषभानु की।
ब्रज-विभूषण में अनुरक्त थी।
सहृदया यह सुन्दर-बालिका।
परम-कृष्ण-समर्पित-चित्त थी ॥ ६ ॥

ब्रज-धराधिप औ वृषभानु में।
अतुलनीय परस्पर-प्रीति थी।
इसलिये उनका परिवार भी।
बहु परस्पर प्रेम-निबद्ध था ॥१०॥

जब नितान्त-अबोध मुकुन्द थे।
विलसते जब केवल अंक में।
वह तभी वृषभानु निकेत में।
अति समादर साथ गृहीत थे ॥११॥

छबिवती-दुहिता वृषभानु की।
निपट थी जिस काल पयोमुखी।
वह तभी जननी-बलवीर की।
परम-कौतुक-पुत्तलिका रही ॥१२॥

यह अलौकिक-बालक-बालिका।
जब हुए कल-क्रीड़न-योग्य थे।

परम-तन्मयता सँग प्रेम से।
तब परस्पर थे वह खेलते ॥१३॥
कलित-क्रीड़न से इन के कभी।
ललित हो उठता गृह-नन्द का।
उमड़ सी पड़ती छबि थी कभी।
बर-निकेतन में वृषभानु के ॥१४॥
जब कभी कल-क्रीड़न-सूत्र से।
चरण-नूपुर औ कटि-किंकिणी।
सदन में बजती अति-मंजु थी।
किलकती तब थी कल-वादिता ॥१५॥
युगल का बय साथ सनेह भी।
निपट-नीरवता सँग था बढ़ा।
फिर यही बर-बाल सनेह ही।
प्रणय में परिवर्तित था हुआ ॥१६॥
बलवती कुछ थी इतनी हुई।
कुँवरि-प्रेम-लता उर-भूमि में।
शयन भोजन क्या, सब कालही।
वह बनी रहती छबि-मत्त थी ॥१७॥
बचन की रचना रस से भरी।
मुख ब्रजाधिप की रमणीयता।
उतरती न कभी चित से रही।
सरलता, अतिप्रीति, सुशीलता ॥१८
मधुपुरी बलबीर प्रयाण के।
हृदय-शैल-स्वरूप प्रसंग से।
नहिं बची वह बेलि-बिनोद की।
बिधि अहो भवदीय बिडम्बना ॥१९॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीयता कमल में क्या है न कोई कमी।
दंडों में कब ईख के बिपुलता है ग्रंथियों की भली।
हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं ॥२०॥

द्रुतविलम्बित छन्द

कमल का दल भी हिम-पात से।
दलित हो पड़ता सब काल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी।
निगलता करता बहु क्लान्त है ॥२१॥

कुसुम सा सुप्रफुल्लित बालिका।
हृदय भी न रहा सुप्रफुल्ल ही।
वह मलीन सकल्मष हो गया।
प्रिय मुकुन्द प्रवास-प्रसंग से ॥२२॥

सुख जहाँ निज दिव्य स्वरूप से।
विलसता करता कल-नृत्य है।
अहह सो अति-सुन्दर सद्म भी।
बच नहीं सकता दुखलेश से ॥२३॥

सुखित-सज्जित-शोभन-स्वर्ग सा।
सदन श्री वृषभानु कुमारि का।
तुरत ही दुख के लवलेश से।
मलिन शोकसमन्वित हो गया ॥२४॥

जब हुई श्रुति-गोचर सूचना।
ब्रज-विभूषण प्रात-प्रयाण की।
सहचरी ललिता उस काल थी।
निकट श्री वृषभानु कुमारि के ॥२५॥

बिकसिता-कलिका हिमपात से ।
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है ।
श्रवण से बलवीर-प्रवास के ।
मलिन त्यों वृषभानुसुता हुई ॥२६॥
नयन से बरसा कर बारि को ।
बन गई पहले वह बावली ।
निज सखी ललिता दिशि देख के ।
दुखकथा फिर यों कहने लगी ॥२७॥

मालिनी छन्द

कल कुवलय के से नेत्रवाले रसीले ।
बररचित फबीले वस्त्र पीताभ शोभी ।
गुरुगुण गरबीले मंजुभाषी सजीले ।
वह परम छबीले लाड़िले नन्दजी के ॥२८॥
यदि कल मथुरा को प्रात ही जा रहे हैं ।
बिन मुख अवलोके प्राण कैसे रहेंगे ।
युग सम घटिकायें बार की बीतती थीं ।
सखि दिवस हमारे बीत कैसे सकेंगे ॥२९॥
जन मन कलपाना मैं बुरा जानती हूं ।
परदुख लख के भी मैं न होती सुखी हूं ।
कहकर कटु बातें जी न भूले जलाया ।
फिर यह दुखदायी बात मैंने सुनी क्यों ॥३०॥
सखी,लख यह मेरी खिन्नता तू कहेगी ।
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं ।
पर हृदय न जानें दग्ध क्यों हो रहा है ।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता ॥३१॥
यह सकल दिशायें आज रोसी रही हैं ।
वह सदन हमारा, है हमें काट खाता ।

मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन-विपिन में है भागता सा दिखाता ॥३२॥
रुदनहित न जानें कौन क्यों है बुलाता।
गति पलट रही है भाग्य की भी हमारे।
यक कसक समाई जा रही है कहां की।
सखि, हृदय हमारा दग्ध क्यों हो रहा है ॥३३॥
यदपि नृपति ने है प्यार ही से बुलाया।
पर कुशल हमें तो है न होती दिखाती।
प्रिय-बिरह-घटायें घेरती आ रही हैं।
घहर घहर देखो हैं कलेजा कँपाती ॥३४॥
हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूं।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाग में जो लिखा है ॥३५॥
सविध भगवती को आज लौं पूजती हूं।
बहु-व्रत रखती हूं देवता हूं मनाती।
मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूं।
पर बिफल हमारे पुण्य भी हो चले हैं ॥३६॥
बहु-ध्वनि करुणा की फैल सी क्यों गई है।
तरु-गन मन मारे आज क्यों यों खड़े हैं।
अवनि अति-दुखीसी क्यों हमें है दिखाती।
नभ-पर दुख छाया-पात क्यों हो रहा है ॥३७॥
अहह सिसिकती मैं क्यों किसे देखती हूं।
मलिन मुख किसीका क्यों मुझे है सताता।
जल जल किसका है छार होता कलेजा।
निकल निकल आहें कौन की बेचती हैं ॥३८॥

सखि, भय यह कैसा गेह में छा गया है।
पल पल जिस से मैं आज यों चौंकती हूं।
कँप कर गृह में की ज्योति छाई हुई भी।
छन छन अति मैली क्यों हुई जारही है ॥३९॥
मनहरण हमारे प्रीति जाने न पावें।
सखि ! जुगुत हमें तो सूझती है न ऐसी।
पर यदि यह काली यामिनी ही न बीते।
तब फिर ब्रज कैसे प्राणप्यारे तजेंगे ॥४०॥
सब नभ-तल-तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रज दुख लख के ही क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं ॥४१॥
रह रह किरणें जो फूटती हैं दिखाती।
वह मिस इनके क्या बोध देते हमें हैं।
कर वह अथवा यों शान्ति को हैं बढ़ाते।
विपुल-व्यथित जीवों की व्यथा मोचने को ॥४२॥
दुख-अनल-शिखायें व्योम में फूटती हैं।
यह किस दुखिया का हैं कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है ॥४३॥
चमक चमक तारे धीर देते हमें हैं।
सखि, मुझ दुखिया की बात भी क्या सुनेंगे।
पर-हित-रत-हों ए ठौर को जो न छोड़े।
निशि गत नहिं होगी बात मेरी बनेगी ॥४४॥
उडुगण थिर से क्यों हो गये दीखते हैं।
यह बिनय हमारी कान में क्या पड़ी है।

रह रह इन में क्यों रंग आ जा रहा है ।
कुछ सखि, इन को भी हो रही बेकली है ॥४५॥

दिन फल जब खोटे हो चुके हैं हमारे ।
तब फिर वह कैसे काम के भी बनेंगे ।
पल पल अति फीके हो रहे हैं सितारे ।
वह सफल न मेरी कामना को करेंगे ॥४६॥

यह नयन हमारे क्या हमें हैं सताते ।
अहह निपट मैली ज्योति भी हो रही है ।
दुख लख कर मेरा या हुए मंद तारे ।
कुछ समझ हमारी काम देती नहीं है ॥४७॥

सखि, मुख अब तारे क्यों छिपाने लगे हैं ।
वह दुख लखने की ताब क्या हैं न लाते ।
परम-बिफल होके आपदा टालने में ।
वह मुख अपना हैं लाज से या छिपाते ॥४८॥

छितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है ।
वह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का ।
बिहग बिकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं ।
सखि, सकल दिशा में आगसी क्यों लगी है ४९॥

सब समझ गई मैं काल की क्रूरता को ।
पल पल वह मेरा है कलेजा कँपाता ।
अब नभ उगलेगा आग का एक गोला ।
सकल-ब्रज-धरा को फूँक देता जलाता ॥५०॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

हा ! हा ! आँखों मम-दुख दशा देखली औ न सोची ।
बातें मेरी कमलिनिपते कान की भी न तू ने ।

जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उँजाला।
तेरा होना उदय ब्रज में तो अँधेरा करेगा ॥ ५१ ॥

नाना बातें दुख शमन को प्यार से थी सुनाती।
धीरे धीरे नयन जल थी पोंछती राधिका का।
हा! हा! प्यारी दुखित मत हो यों कभी भाखती थी।
रोती रोती बिकल ललिता आप होती कभी थी ॥५२॥

सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखें बिपुल जल में डूबती जा रही थीं।
शंकायें थीं बिकल करती काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम-मलिना उन्मना राधिका थी ॥५३॥

पञ्चम सर्ग

मन्दाक्रान्त छन्द

तारे डूबे तम टल गया छा गई व्योम-लाली।
पंछी बोले तमचुर जगे ज्योति फैली दिशा में।
शाखा डोली सकल-तरु की कंज फूले सरों में।
धीरे धीरे दिनकर कढ़े तामसी रात बीती॥ १॥

लोनी लोनी सकल-लतिका वायु में मन्द डोलीं।
प्यारी प्यारी ललित-लहरें भानुजा में बिराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कूलों कुंजों कुसुमित बनों क्यारियों ज्योति फैली॥ २॥

प्रातः शोभा ब्रज अवनि में आज प्यारी नहीं थी।
मीठा मीठा बिहग-रव भी कान को था न भाता।
फूले फूले कमल दव थे लोचनों में लगाते।
लाली सारे गगन-तल की काल-व्याली समा थी॥ ३॥

चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंक में जो तरंगें।
वे थीं मानों प्रकट करतीं भानुजा की व्यथायें।
धीरे धीरे मृदु पवन में चाव से थीं न डोली।
शाखायें भी सहित लतिका शोक से कंपिता थीं॥ ४॥

फूलों पत्तों सकल पर हैं वारि बूंदें लखातीं।
रोते हैं या बिटप सब यों आँसुओं को दिखा के।
रोई थी जो रजनि दुख से नंद की कामिनी के।
ये बूंदें हैं निपतित हुईं या उसी के दृगों से॥ ५॥

कोई कोई मृदुल-लतिका बेलियां औ लतायें।
भींगी सी थीं बिपुल जल में वारि-बूंदों भरी थीं।
मानों फूली सकल तन में शोक की अश्रुधारा।
फूलों पत्तों बिपुल कलियों डालियों हो बही थी॥ ६॥

धीरे धीरे पवन ढिग जा फूलवाले द्रुमों के।
शाखाओं से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
मानों यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की।
जो थी प्यारी न ब्रज जन को आज न्यारी व्यथा से ॥७॥
फूलों का यों अवनि-तल में देख के पात होना।
ऐसी भी थी हृदय-तल में कल्पना आज होती।
फूले फूले कुसुम अपने अंक में से गिरा के।
बारी बारी सकल तरु भी खिन्नता हैं दिखाते ॥ ८ ॥
नीची ऊँची सरित सर की बीचियाँ ओस बूँदें।
आभा न्यारी वहन करती भानु की अंक में थीं।
मानों यों वे हृदय-तल के ताप को थीं दिखातीं।
या दावा थी उरसि उन के दीसिमाना दुखों की ॥ ९ ॥
सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानों खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्तिहीना मलीना ॥१०॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

प्रगट चिह्न हुए जब प्रात के।
सकल भूतल औ नभ देश में।
जब दिशा सितता-युत हो चली।
तममयी करके ब्रज की धरा॥ ११ ॥

मुख-मलीन किये दुख में पगे
अमित-मानव गोकुल ग्राम के।
तब स-बाम स बालक-बालिका।
व्यथित से निकले निज सद्म से ॥१२॥

बिलखती दृग वारि बिमोचती।
यह बिषाद-मयी जन मण्डली।

परम आकुलता सँग थी बढ़ी।
सदन और नराधिप नन्द के ॥१३॥
उदय भी न हुए जब भानु थे।
निकट गेह ब्रजाधिप के तभी।
जन समागम ही सब ओर था।
निरख था पड़ता नरमुण्ड ही ॥१४॥

वसन्ततिलका छन्द।

थे दीखते परम बृद्ध नितान्त रोगी।
या थी नवागत बधू गृह में दिखाती।
कोई न और इन को तज के कहीं था।
सूने पड़े सदन गोकुल के सभी थे ॥१५॥
जो अन्य ग्राम ढिग गोकुल ग्राम के थे।
प्राणी अनेक उन ग्राम समस्त के भी।
डूबे अपार-दुख-सागर में सबामा।
आ के खड़े निकट नन्द-निकेत के थे ॥१६॥
जो भीड़ आलय-समीप ब्रजेश के थी।
सो कातरा बहु बनी भय-कंस से थी।
संचालिता विषमता करती उसे थी।
संताप की बिबिध-संशय की दुखों की ॥१७॥
नाना प्रसंग उठते जन-संघ में थे।
जो थे सशंकित महा करते सबों को।
था सूखता अधर औ कँपता कलेजा।
चिन्ता-अपार चित में चिनगी लगाती ॥१८॥
रोना महा-अशुभ जान पयान-बेला।
आँसू न ढाल सकती निज नेत्र से थी।
रोये बिना न छन भी मन मानता था।
डूबी महान द्विविधा जन-मण्डली थी ॥१९॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

आई बेला हरि-गमन की छा गई खिन्नता सी।
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में।
आगे सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले।
धीरे धीरे सजनक कढ़े सद्म में से मुरारी॥२०॥

आते आँसू अति कठिनता साथ रोके दृगों के।
होती खिन्ना हृदय-तल के सैकड़ों संशयों से।
नाना बामा परम दुखिता संग शोकाभिभूता।
पीछे प्यारे तनय निकलीं गेह में से यशोदा॥२१॥

द्वारे आया ब्रज नृपति को देख यात्रा लिये ही।
भोला भोला निरख मुखड़ा फूल से लाड़िलों का।
खिन्ना दीना परम लख के नन्द की भामिनी को।
चिन्ता-डूबी सकल जनता हो उठी कम्पमाना॥२२॥

कोई रोया नहिं जल रुका लाख रोके दृगों का।
कोई आहें सदुख भरता हो गया बावला सा।
कोई बोला-सकल-ब्रज के जीवनाधार प्यारे।
यों लोगों को व्यथित करके आज जाते कहाँ हो॥२३॥

रोता होता बिकल अतिही एक आभीर बूढ़ा।
दीनों के से बचन कहता पास अक्रूर आया।
बोला—कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें।
मेरे प्यारे कुँवर मुझ से आज न्यारे न होवें॥२४॥

मैं बूढ़ा हूं यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना।
तो मेरी है बिनय इतनी श्याम को छोड़ जावें।
हा! हा! सारी वृज अवनि का प्राण है लाल मेरा।
क्यों जीयेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो॥२५॥

रत्नों की है नहिं कुछ कमी आप लें रत्न ढेरों।
सोना चाँदी सहित धन भी गाड़ियों आप लेलें।

गायें लेलें गज तुरग भी आप लेलें अनेकों।
लेवें मेरे न निजधन को जोड़ता हाथ मैं हूं ॥२६॥

जो है प्यारी धरनि ब्रज की यामिनी के समाना।
तो ताताें के सहित सिगरे गोप हैं तारकों से।
मेरा प्यारा कुँवर उस का एकही चन्द्रमा है।
छा जावेगा तिमिर वह जो दूर होगा दृगों से ॥२७॥

सच्चा प्यारा सकल ब्रज का वंश का है उँजाला।
दोनों का है परमधन औ वृद्ध का नेत्रतारा।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सु-रतन कहां आप ऐसा हमारा ॥२८॥

बूढ़े के ए बचन सुनके नेत्र में नीर आया।
आँसू रोके परम मृदुता साथ अक्रूर बोले।
क्यों होते हैं दुखित इतने मानिये बात मेरी।
आजावेंगे बिवि दिवस में आप के लाल दोनों ॥२९॥

आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा-प्रवीणा।
हाथों से छू कमल-मुख को प्यार से लीं बलायें।
पीछे बोली दुखित स्वर से तू कहीं जा न बेटा।
तेरी माता अहह कितनी बावली हो रही है ॥३०॥

जो रूठेगा नृपति ब्रज का बासही छोड़ दूंगी।
ऊँचे ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूंगी।
खाऊँगी फूल फल दल को व्यंजनों को तजूंगी।
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूंगी ॥३१॥

जाओगे क्या कुँवर मथुरा कंस का क्या ठिकाना।
मेरा जी है बहुत डरता क्या न जाने करेगा।
मानूंगी मैं न सुरपति की राज ले क्या करूंगी।
तेरा प्यारा-बदन लख के स्वर्ग को मैं तजूंगी ॥३२॥

जो लेवेगा नृपति मुझ से दंड दूंगी करोड़ों।
लोटा थाली सहित तन के वस्त्र भी बेंच दूंगी।
जो मांगेगा हृदय वह तो काढ़ दूंगी उसे भी।
बेटा, तेरा गमन मथुरा मैं न आँखों लखूंगी ॥३३॥

कोई भी है न सुन सकता जा किसे मैं सुनाऊं।
मैं हूँ मेरा हृदयतल है औ व्यथा हैं अनेकों।
बेटा! तेरा सरल मुखड़ा शान्ति देता मुझे है।
क्यों जीऊंगी कुँवर, बतला जो चला जायगा तू ॥३४॥

प्यारे तेरा गमन सुन के दूसरे रो रहे हैं।
मैं रोती हूँ सकल ब्रज है बारि लाता दृगों में।
सोचो बेटा, उस जननि की क्या दशा आज होगी।
तेरे जैसा सरल जिस का एक ही लाड़िला है ॥३५॥

प्राचीना की सदुख सुन के बात सारी मुरारी।
दोनों आँखें सजल करके प्यार के साथ बोले।
मैं आऊंगा कुछ दिन गये बाल होगा न बांका।
क्यों माता तू बिकल इतना आज यों हो रही है ॥३६॥

दौड़ा ग्वाला ब्रज नृपति के सामने एक आया।
बोला गायें सकल बन को आप की हैं न जाती।
दाँतों से हैं न तृण गहती हैं न बच्चे पिलाती।
हा! हा! मेरी सुरभि सबको आज क्या हो गया है ॥३७॥

देखो देखो सकल हरि की ओर ही आ रही हैं।
रोके भी हैं न रुक सकती बावली हो गई हैं।
यों ही बातें सदुख कह के फूट के ग्वाल रोया।
बोला मेरे कुँवर सब को यों रुला के न जाओ ॥३८॥

रोता ही था अहिर तब लौं नन्द की सर्व गायें।
दौड़ी आईं निकट हरि के पूँछ ऊँचा उठाये।

खिन्ना दीना विपुल वह थीं बारि था नेत्र लाता।
ऊँची आँखों कमल मुख थीं देखती शंकिता हो ॥३६॥

काकातूआ महर-गृह के द्वार का भी दुखी था।
भूला जाता सकल-स्वर था उन्मना हो रहा था।
चिल्लाता था अति बिकल था औ यही बोलता था।
यों लोगों को व्यथित करके लाल जाते कहाँ हो ॥४०॥

पंछी की औ सुरभि सब की देख ऐसी दशायें।
थोड़ी जो थी अहह! वह भी धीरता दूर भागी।
हा हा! शब्दों सहित इतना फूट के लोग रोये।
हो जाती थी निरख जिस को भग्न छाती शिला की ॥४१॥

आवेगों के सहित बढ़ते देख संताप-नाना।
धीरे धीरे ब्रज-नृपति से खिन्न अक्रूर बोले।
देखी जाती नहिं ब्रज-व्यथा शोक है वृद्धि पाता।
आज्ञा दीजे जननि पग छू यान पै श्याम बैठें ॥४२॥

आज्ञा पाके निज जनक की, मान अक्रूर बातें।
जेठे भ्राता सहित जननी-पास गोपाल आये।
छू माता के कमल पग को धीरता साथ बोले।
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊं ॥४३॥

दोनों प्यारे कुँवरवर के यों बिदा मांगते ही।
रोके आँसू जननि दृग में एक ही साथ आये।
धीरे बोलीं परम दुख से जीवनाधार जाओ।
दोनों भैया मुख-शशि हमें लौट आके दिखाओ ॥४४॥

धीरे धीरे सु-पवन बहे स्निग्ध हो अंशुमाली।
प्यारी छाया बिटप बितरें शान्ति फैले बनों में।
बाधायें हो शमन पथ की दूर हों आपदायें।
यात्रा तेरी सफल सुत हो छेम से सद्म आओ ॥४५॥

ले के माता-चरण-रज को श्याम औ राम दोनों।
आये विप्रों निकट उन के पांव की बन्दना की।
भाई-बन्दों सहित मिल के हाथ जोड़ा बड़ों को।
पीछे बैठे विशद रथ में बोध दे के सबों को ॥४६॥

दोनों प्यारे निज कुँवर को यान पै देख बैठा।
आवेगों से विवश अति ही हो उठी नन्दरानी।
आँसू डूबे युगल दृग से वारिधारा बहा के।
बोली दीना सदृश वह यों दग्ध हो हो पती से ॥४७॥

मालिनी छन्द

अहह दिवस ऐसा हाय! क्यों आज आया।
निज प्रिय सुत से जोमैं जुदा हो रही हूं।
अगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी।
यह अनुपम थाती मैं तुम्हें सौंपती हूं ॥४८॥

सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही।
नहि कुँवर कहीं भी आज लौं हैं सिधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे ॥४९॥

खर पवन सतावे लाडिलों को न मेरे।
दिनकर-किरणों की ताप से भी बचाना।
यदि उचित जँचे तो छाँह में भी बिठाना।
मुख-सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे ॥५०॥

विमल जल मँगाना देख प्यासा पिलाना।
कुछ क्षुधित हुए ही व्यञ्जनों को खिलाना।
दिन बदन सुतों का देखते ही बिताना।
प्रफुलित अधरों को सूखने भी न देना ॥५१॥

युग तुरग सजीले वायु से वेग वाले।

अति अधिक न दौड़े यान धीरे चलाना ।
बहु हिल कर हा हा कष्ट कोई न देवे ।
परम मृदुल मेरे बालकों का कलेजा ॥५२॥

सकल नगर में ही बाम ऐसी मिलेंगी ।
सब नहिं जिन की हैं बामता बूझ पाते ।
सकल समय ऐसी साँपिनों से बचाना ।
वह निकट हमारे लाड़िलों के न आवें ॥५३॥

जब नगर दिखाने के लिये नाथ जाना ।
निज सरल कुमारों को खलों से बचाना ।
सँग सँग रखना औ साथ ही गेह लाना ।
छन सुअन दृगों से दूर होने न पावें ॥५४॥

धनुष मख सभा में देख मेरे सुतों को ।
तनक भृकुटि टेढ़ी नाथ जो कंस की हो ।
अवसर लख ऐसे यत्न तो सोच लेना ।
न कुपित नृप होवें औ बचें लाल मेरे ॥५५॥

यदि विधिवश सोचा भूप ने और ही हो ।
यह विनय बड़ी ही दीनता से सुनाना ।
हम बस न सकेंगे जो हुई दृष्टि मैली ।
युग सुअन यही हैं जीवनाधार मेरे ॥५६॥

लख कर मुख सूखा सूखता है कलेजा ।
उर बिच बलती है आग देखे दुखों के ।
शिर पर सुत के जो आपदा नाथ आई ।
यह अवनि फटेगी औ समा जाउंगी मैं ॥५७॥

जगकर कितनी ही रात मैं ने बिताई ।
यदि तनक कुमारों को हुई बेकली थी ।

यह हृदय हमारा भग्न कैसे न होगा।
यदि कुछ दुख होगा बालकों को हमारे ॥४८॥

बहु निशि नहिं मैंने शीत को शीत जाना।
थर थर कँपती थी औ लिये अंक में थी।
यदि सुखित न यों भी देखती लाल को थी।
सब रजनि खड़े औ घूमते थी बिताती ॥५६॥

निज सुख अपने मैं ध्यान में भी न लाई।
प्रिय सुत सुख ही से मैं सुखी आज लौं हूं।
मुख तक कुम्हलाया नाथ मैं ने न देखा।
अहह दुखित कैसे लाड़िले को लखूंगी ॥६०॥

यह समझ रही हूं और हूं जानती ही।
हृदय धन तुमारा भी यही लाड़िला है।
पर बिवश हुई हूं जी नहीं मानता है।
यह विनय इसी से नाथ मैं ने सुनाई ॥६१॥

अब अधिक नहीं मैं भाखना चाहती हूं।
अनुचित मुझ से है नाथ होता बड़ाही।
निज युग कर जोड़े ईश से हूं मनाती।
सकुशल गृह लौटें आप ले लाड़लों को ॥६२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

सारी बातें अति दुखभरी नन्द-अर्द्धाङ्गिनी की।
लोगों को थीं व्यथित करती औ महा कष्ट देती।
ऐसा कोई सकल-जनता खो बची धीरता को।
भू में व्यापी विपुल जिस से शोक उच्छ्वासमात्रा ॥६३॥

आविर्भूता गगन-तल में हो रही है अनाशा।
आशाओं में प्रगट दुख की मूर्तियां हो रही हैं।

ऐसा जी में ब्रज-दुख-दशा देख के था समाता।
भू-छिद्रों से बिपुल करुणा-धार है फूटती सी ॥६४॥

सारी बातें सदुख सुन के नन्द ने कामिनी को।
प्यारे प्यारे बचन कह के धीरता से प्रबोधा।
आई थी जो सकल जनता धैर्य्य देके उसे भी।
वे भी बैठे स्वरथ पर जा साथ अक्रूर को ले ॥६५॥

घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बातें दुखमय कहीं पत्थरों को रुलाया।
हाहा खाया, बहु बिनय की औ कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को ॥६६॥

बीसों बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनों करों से।
रासें ऊँचे युग तुरग की थाम लीं सैकड़ों ने।
सोये भू में चपल रथ के सामने आ अनेकों।
जाना होता अति अप्रिय था बालकों का सबों को ॥६७॥

लोगों को यों परम दुख से देख उन्मत्त होता।
नीचे आये उतर रथ के नन्द औ यों प्रबोधा।
क्यों होते हो विकल इतना यान क्यों रोकते हो।
दोनों प्यारे कुंवर सँग मैं दो दिनों में फिरूंगा ॥६८॥

देखो प्यारे, दिन चढ़ गया धूप भी हो रही है।
जो रोकोगे अधिक अब तो लाल को कष्ट होगा।
यों ही बातें मृदुल कह के औ हटा के सबों को।
वे जा बैठे तुरत रथ में औ उसे शीघ्र हांका ॥६९॥

दोनों तीखे तुरग उचके औ उड़े यान को ले।
आशाओं में गगन-तल में ही उठा शब्द हाहा।
रोये प्राणी सकल ब्रज के चेतनाशून्य से हो।
संज्ञा खो के निपतित हुई मेदनी में यशोदा ॥७०॥

टापों द्वारा पथरज उड़ी सामने देख आती।
बोली जाके निकट उसके भ्रान्त सी एक बाला।
क्यों होती है भ्रमित इतनी धूलि क्यों क्षिप्त तू है।
क्या तू भी है विचलित हुई श्याम से भिन्न हो के ॥७१॥

आओ मेरे हृदय लग जा लोचनों में समा जा।
मेरे अङ्गों पर पतित हो बात मेरी बना जा।
मैं पाती हूं सुख रज तुझे आज छूके करों से।
तू आती है प्रिय निकट से क्लान्ति मेरी मिटा जा ॥७२॥

रत्नों वाले मुकुट पर जा बैठती दिव्य होती।
जो छा जाती अलक पर तू तो छटा मंजु पाती।
धूली तू है निपट मुझ सी भाग्यहीना मलीना।
आभा वाले कमल-पग से जो नहीं जा लगी तू ॥७३॥

जो तू जाके विशद रथ में बैठ जाती कहीं भी।
या तू दोनों तुरगबर के अंग ही में समाती।
तो तू जाती प्रिय स्वजन के साथ ही शान्ति पाती।
यों होहो के भ्रमित मुझ सी भ्रान्त कैसे दिखाती ॥७४॥

हा! मैं कैसे निज हृदय की वेदना को बताऊं।
मेरे जी को मनुज तन से ग्लानि सी हो रही है।
जो मैं होती तुरग अथवा यान ही या ध्वजा ही।
तो मैं जाती कुंवर सँग ही क्यों वृथा कष्ट पाती ॥७५॥

बोली बाला अपर तब लौं हा! सखी क्या कहूँ मैं।
आँखों से तो अब रथ ध्वजा भी नहीं है दिखाती।
है धूली ही गगन-तल में अल्प उड्डीयमाना।
हा! उन्मत्ते! नयन भर तू देख ले धूलि ही को ॥७६॥

जी होता है विकल मुंह को आ रहा है कलेजा।
ज्वाला सी है उरसि उठती ऊबती मैं महा हूं।

मेरी आली अब रथ गया दूर ले साँवले को।
हा! आँखों से न अब मुझ को धूलि भी है दिखाती ॥७७॥

कानों में थी ध्वनित जब लौं टाप होती हयों की।
देखी जाती तनक जब लौं यान की थी पताका।
थोड़ी सी भी जब तक रही व्योम में धूलि छाती।
यों ही बातें बिबिध कहते लोग ऊबे खड़े थे ॥ ७८ ॥

द्रुतबिलंबित छन्द

तदुपरान्त महा दुख में पगी।
बहु बिलोचन बारि बिमोचती।
महरि को लख गेह सिधारती।
गृह गई सिगरी जनमंडली ॥७९॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

धाता द्वारा सृजित जग में हो धरा बीच आके।
पा के खोया रतन कितने प्राणियों ने अनेकों।
जैसा प्यारा रतन ब्रज ने हाथ से आज खोया।
पाके ऐसा रतन अब लौं है न खोया किसी ने ॥ ८० ॥



षष्ठ सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

धीरे धीरे दिन गत हुआ पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा फिर गत हुई दूसरा बार आया।
यों ही बीतीं बिपुल-घटिका औ कई बार बीते।
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आये ॥१॥

ज्यों ज्यों होते दिवस गत थे क्लेश था वृद्धि पाता।
उत्कण्ठा थी अधिक बढ़ती व्यग्रता थी सताती।
होती आके उदय उर में घोर उद्विग्नता थी।
देखे जाते सकल ब्रज के लोग उद्भ्रान्त से थे ॥२॥

खाते पीते गमन करते बैठते और सोते।
आते जाते बिपिन भ्रमते गोधनों को चराते।
देते लेते सकल ब्रज की मेदिनीवासियों के।
जी में होता उदय यह था क्यों नहीं श्याम आये ॥३॥

दो प्राणी भी ब्रज-अवनि के साथ जो बैठते थे।
तो आने की न मधुबन से बात ही थे चलाते।
पूछा जाता प्रतिथल मिथः व्यग्रता से यही था।
दोनों प्यारे कुंवर अब लों लौट के क्यों न आये ॥४॥

आवासों में सुपरिसर में द्वार में बैठकों में।
बाजारों में बिपणि सब में मंदिरों में मठों में।
आने की न ब्रजधन के बात फैली हुई थी।
कुंजों में औ सकल पथ में बाग में औ बनों में ॥५॥

आना प्यारे महरसुत का देखने के लिये ही।
कोसों जाती प्रतिदिन चली ग्वाल की मंडली थी।

ऊँचे ऊँचे तरु पर चढ़े गोप छोटे अनेकों।
घंटों बैठे तृषित दृग से पंथ को देखते थे ॥६॥

आके बैठी निज सदन की मुक्त ऊँची छतों में।
मोखों में आ पथदिशि बने दिव्य बातायनों में।
नाना भावों बिवश बिकला उन्मना नारियों की।
दो ही आँखें सहस बन के देखती पंथ को थीं ॥७॥

आके कागा यदि सदन में बैठता था कहीं भी।
तो तन्वंगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती।
जो आते हों कुँवर उड़ के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ भात दूंगी ॥८॥

कोई आता नगर मथुरा ओर से जो दिखाता।
नाना बातें सदुख उस से पूछते तो सभी थे।
यों ही जाता पथिक मथुरा ओर भी जो जनाता।
तो लाखों ही सकल उससे भेजते थे सँदेसे ॥९॥

पत्ते पत्ते सकल तरु से औ लता बेलियों से।
कोने कोने ब्रज सदन से पंथ की रेणुओं से।
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से।
लोने लोने कुँवर अब लौं क्यों नहीं सद्म आये ॥१०॥

मालिनी छन्द.

यदि दिन कट जाता बीतती थी न दोषा।
यदि निशि टलती थी बार था कल्प होता।
पल पल अकुलाती ऊबती थीं यशोदा।
रट यह रहती थी क्यों नहीं श्याम आये ॥११॥

नित वह कितनों को पंथ में भेजती थीं।
निज प्रिय सुत आना देखने के लिये ही।

नियत यह जताने के लिये थे अनेकों ।
सकुशल गृह दोनों लाड़िले आ रहे हैं ॥१२॥
प्रति दिन वह आके द्वार में बैठती थीं ।
पथदिशि लखते ही बार को थीं बिताती ।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थीं ।
प्रिय सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया ॥१३॥
अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को ।
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को व्यञ्जनों को ।
पथश्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को ।
वह नित रखती थीं भाजनों में सजा के ॥१४॥
जब कुंवर न आते बार भी बीत जाता ।
तब वह दुख पा के बाँट देती उन्हें थीं ।
दिनदिन उर में थी वृद्धि पाती अनाशा ।
तम निविड़ दृगों के सामने हो रहा था ॥१५॥
यदि पुरतिय आके पूछती थीं सँदेसा ।
वह मुख उनका थीं देखती उन्मना हो ।
वह कुछ कहना भी जो कभी चाहती थीं ।
नहिं कह सकती थीं कंठ था रूद्ध होता ॥१६॥
यदि कुछ समझातीं गेह की सेविकायें ।
वह तनक उसे थीं ध्यान में भी न लातीं ।
तन सुधि तक खोती जा रही थीं यशोदा ।
वह बहु विमना औ चिन्तिता हो रही थीं ॥१७॥
यदि दधि मथने को बैठती दासियाँ थीं ।
मथन रव उन्हें था चैन लेने न देता ।
वह यह कह के ही रोक देती उन्हें थीं ।
तुम सब मिल के क्या कान को फोड़ दोगी ॥१८॥

दुख-बश सब धंधे से हो गये थे।
गृह जन मन मारे काल को थे बिताते।
हरि-जननि-व्यथा से मौन थीं शारिकायें।
सकल सदन में ही छा गई थी उदासी ॥१९॥

प्रति दिन कितने ही देवता थीं मनाती।
बहु यजन कराती बिप्र के बृन्द से थीं।
नित घर पर नाना ज्योतिषी थीं बुलाती।
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा ॥२०॥

सदन ढिग कहीं जो डोलता पत्र भी था।
निज श्रवण उठाती थीं समुत्कण्ठिता हो।
कुछ रज उठती जो पंथ के मध्य योंही।
बन अयुत-दृगी तो वे उसे देखती थीं ॥२१॥

गृह दिशि यदि कोई शीघ्रता साथ आता।
तब उभय करों से थामतीं वे कलेजा।
जब वह दिखलाता दूसरी ओर जाता।
तज हृदय करों से ढांपती थीं दृगों को ॥२२॥

मधुबन दिशि से वे तीव्रता साथ आता।
यदि नभ तल में थीं देख पाती पखेरू।
उस पर कुछ ऐसी दृष्टि तो डालती थीं।
लख कर जिस को था भग्न होता कलेजा ॥२३॥

पथदिशि नहीं आंखें थीं लगी उत्सुका हो।
न हृदय तल ही की लालसा वर्धिता थी।
प्रतिपल करता था लाड़िलों की प्रतिज्ञा।
यक यक तन रोआं नंद की भामिनी का ॥२४॥

प्रतिपल दृग देखा चाहते श्याम को थे।
अनुछन सुधि आती श्यामली मूर्ति की थी।
प्रतिनिमिष यही थीं चाहती नन्दरानी।
निज बदन दिखावे मेघ सी कान्तिवाला ॥२५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

नाना-चिन्ता सहित दिन को राधिका थीं बिताती।
आँखों को थीं सजल रखतीं उन्मना थीं दिखाती।
शोभा वाले जलद-बपु की हो रही चातकी थीं।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी ॥२६॥

बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह में थीं अकेली।
आके आँसू युगल-दृग में थे धरा को भिगोते।
आई धीरे इस सदन में पुष्पसद्गंध को ले।
प्रातः वाली सुपवन इसी काल बातायनों से ॥२७॥

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया।
चाहा सारा-कलुष तन का राधिका के मिटाया।
जो बूंदें सजल दृग के पक्ष्म में विद्यमाना।
धीरे धीरे क्षिति पर उन्हें सौम्यता से गिराया ॥२८॥

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें।
थोड़ी सी भी न सुखद हुईं हो गईं बैरिणी सी।
भीनी भीनी महँक सिगरी शान्ति उन्मूलती थी।
पीड़ा देती परम चित को वायु की स्निग्धता थी ॥२९॥

संतापों को बिपुल बढ़ता देख के दुःखिता हो।
धीरे बोलीं सदुख उस से श्रीमती राधिका यों।
प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती।
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से ॥३०॥

कालिन्दी के कर पुलिन पै घूमती सिक्त होती।
प्यारे प्यारे कुसुम-चय को चूमती गंध लेती।

तू आती है बहन करती बारि के सीकरों को।
हा! पापिष्ठे फिर किस लिये ताप देती मुझे है ॥३१॥

क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है।
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है।
मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे बामता को।
पीड़ा खो के प्रणतजन की पुण्य होता बड़ा है ॥३२॥

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्रवाले।
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा।
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूं।
जाके मेरी सब दुखकथा श्याम को तू सुना दे ॥३३॥

जो ऐसा तू नहिं कर सके तो किया चातुरी से।
जाके रोने बिकल बनने आदि ही को दिखा दे।
चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी।
हा हा! मैं हूं मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे ॥३४॥

तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूं जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बनादे ॥३५॥

कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यानवाला।
ऊँचे ऊँचे धवल-गृह की पँक्तियों से प्रशोभी।
जो है न्यारा नगर मथुरा प्राणप्यारा वहीं है।
मेरा सूना सदन तज के तू वहां शीघ्र ही जा ॥३६॥

ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली अमित कितनी कुंज-पुंजें मिलेंगी।
प्यारा छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहां तू न विश्राम लेना ॥३७॥

थोड़ा आगे सरल रव का धाम सत्पुष्पवाला।
लोने लोने बहु द्रुम लतावान सौन्दर्य्यशाली।
प्यारा वृन्दाबिपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा।
आना जाना इस विपिन से मुह्यमाना न होना ॥३८॥

जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे।
तो तू जा के निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
धीरे धीरे परस कर के गात उत्ताप खोना।
सद्‌गंधों से श्रमित जन को हर्षितों सा बनाना ॥३९॥

संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से।
ले के नाना कुसुम कुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पंथ में शान्ति पावें ॥४०॥

लज्जा-शीला-युवति पथ में जो कहीं दृष्टि आवे।
होने देना बिकृत-बसना तो न तू सुन्दरी को।
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना।
होठों की औ कमल-मुख की म्लानतायें मिटाना ॥४१॥

जो पुष्पों के मधुर-रस को साथ सानन्द बैठे।
पीते होवें भ्रमर भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हों।
क्रीड़ा होवे नहि कलुषिता केलि में हो न बाधा ॥४२॥

कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कहीं भी कढ़े तू।
छू के नीला सलिल उस का अंग उत्ताप खोना।
जी चाहे तो कुछ समय लौं खेलना पंकजों से।
छोटी छोटी सु-लहर उठा क्रीड़ितों को नचाना ॥४३॥

प्यारे प्यारे तरु किशलयों को कभी जो हिलाना।
तो तू ऐसी मृदुल बनना टूटने वे न पावें।

शाखापत्रों सहित जब तू केलि में लग्न होना।
तो थोड़ा भी न दुःख पहुंचे पक्षि के शावकों को ॥४४॥

तेरे जैसी मृदु-पवन से सर्वथा शान्ति-कामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो।
तो तू मेरे सकल दुख कोभूल के धीर होके।
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वाङ्ग होना ॥४५॥

कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उसको क्लान्ति सर्वाङ्ग खोना।
जाता कोई, जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया सीरी सुखद करदे, शीश तप्तांगना के ॥०६॥

उद्यानों में सु-उपवन में बापिका में सरों में।
फूलोंवाले नवल तरु में पत्रशोभी द्रुमों में।
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना।
कुंजों में औ कमल-कुल में बीथिका में बनों में ॥४७॥

जाते जाते पहुँच मथुरा-धाम में उत्सुका हो।
न्यारी-शोभा बर नगर की देखना मुग्ध होना।
तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को।
आभावाले कलश जिन के दूसरे अर्क से हैं ॥४८॥

जी चाहे तो शिखर पर जा क्रीड़ना मन्दिरों के।
ऊँची ऊँची अनुपम-ध्वजा अङ्क में ले उड़ाना।
प्रासादों में अटन करना घूमना प्रांगणों में।
उद्यक्ता हो सकल सुर से सद्म को देख जाना ॥४९॥

कुञ्जों बागों विपिन यमुना कूल या आलयों में।
सद्गंधों से सनित मुख की बास सम्बन्ध से आ।
कोई भौंरा विकल करता जो किसी बाल को हो।
तो सद्भावों सहित उसको ताड़ना दे भगाना ॥५०॥

तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
उद्यानों में वर नगर के सुन्दरी मालिनों को।
वे कार्य्यों में स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी।
जो श्रान्ता हों सरस गति से तो उन्हें मोह लेना ॥५१॥

जो इच्छा हो सुरभि सुखदा ले तनाभूषणों से।
आते जाते स-रुचि उनके प्रीतमों को रिझाना।
पै मर्म्मज्ञे रहित उससे सर्वथा किन्तु होना।
जैसे जाना निकट प्रिय के व्योम-चुम्बी गृहों के ॥५२॥

तू पूजा के समय मथुरा मन्दिरों मध्य जाना।
नाना वाद्यों मधुर-स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।
किम्बा ले के रुचित तरु के शब्दकारी फलों को।
धीरे धीरे रुचिर-रव से मुग्ध हो हो बजाना ॥५३॥

नीचे पुष्पों लसित तरु के जो खड़े भक्त होवें।
किम्बा कोई उपल-गठिता-मूर्ति हो देवता की।
तो डालों को परम मृदुता मंजुता से हिलाना।
औ यों वर्षा कुसुम करना शीश देवालयों के ॥५४॥

तू पावेगी वर नगर में एक भूखण्ड न्यारा।
शोभा देते अमित जिसमें राज-प्रासाद होंगे।
उद्यानों में परम-सुषमा है जहाँ संचिता सी।
छीने लेते सरवर जहाँ वज्र की स्वच्छता हैं ॥५५॥

तू देखेगी जलद-तन को जा वहीं तद्गता हो।
होंगे लोने नयन उन के ज्योति-उत्कीर्णकारी।
मुद्रा होगी वर-वदन की मूर्ति सी सौम्यता की।
सीधे सीधे वचन उनके सिक्त पीयूष होंगे ॥५६॥

नीले कंजों सदृश उन के गात की श्यामता है।
पीला प्यारा बसन कटि में पैन्हते हैं फबीला।

छूटी काली-अलक मुख की कान्ति को है बढ़ाती।
सद्वस्त्रों में नवल-तन की फूटती सी प्रभा है ॥५७॥

साँचे ढाला सकल बपु है दिव्य सौंदर्य्यवाला।
सत्पुष्पों सा सुरभि उसकी प्राण संपोषिका है।
दोनों कंधे वृषभ-बर से हैं बड़े ही सजीले।
लम्बी बाँहें कलभ-कर सी शक्ति की पेटिका हैं ॥५८॥

राजाओं सा मुकुट उन के राजता शीश होगा।
कानों होगी सुललित-छटा स्वर्ण के कुण्डलों की।
नाना रत्नों बलित भुज में मंजु-केयूर होंगे।
मोतीमाला कलित लसती कम्बु से कंठ होगी ॥५९॥

प्यारे ऐसे अपर जन भी जो वहाँ दृष्टि आवें।
देवों के से प्रथित-गुण से तो उन्हें चीन्ह लेना।
वे हैं थोड़े यदपि वय में तेजशाली बड़े हैं।
तारों में है न छिप सकता कंत राका निशा का ॥६०॥

बैठे होंगे जिस थल वहाँ भव्यता भूरि होगी।
सारे प्राणी बदन लखते प्यार के साथ होंगे।
पाते होंगे परम निधि औ लूटते रत्न होंगे।
होती होंगी हृदयतल की क्यारियां पुष्पिता सी ॥६१॥

बैठे होंगे निकट जितने शान्त औ शिष्ट होंगे।
मर्य्यादा का सकल जन को ध्यान होगा बड़ा ही।
कोई होगा न कह सकता बात दुर्वृत्तता की।
पूरा पूरा हृदय सब के श्याम आतंक होगा ॥६२॥

प्यारे प्यारे वचन उन से बोलते श्याम होंगे।
फैली जाती हृदय उन के हर्ष की बेलि होगी।
देते होंगे महत गुण वे देख के नैन कोरों।
लोहा को छू कलित कर से स्वर्ण होंगे बनाते ॥६३॥

सीधे जाके प्रथम गृह के मंजु उद्यान में तू।
जो थोड़ी भी पतन तन हो सिक्त हो के मिटाना।
निर्धूली हो सरस रज से पुष्प के लिप्त होना।
पीछे जाना प्रियसदन में स्निग्धता से बड़ी ही ॥६४॥
जो प्यारे के निकट बजता बीन या वंशिका हो।
किम्बा कोई मुरजपनवों आदि को हो बजाता।
या गाती हो मधुर स्वर से मण्डली गायकों की।
होने पावे न स्वर लहरी अल्प भी तो बिपन्ना ॥६५॥
जाते ही छू कमलदल से पाँव को पूत होना।
काली काली अलकमृदुता से कपोलों हिलाना।
क्रीड़ायें भी कलित करना ले दुकूलादिकों को।
धीरे धीरे परस तन को प्यार की बेलि बोना।६६॥
तेरे में है न यह गुण जो तू व्यथायें सुनाये।
तू कामों को प्रखर मति औ युक्तियों से चलाना।
बैठे जो हों सदन अपने मेघ सी कान्तिवाले।
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना ॥६७॥
जो चित्रों में बिरह-बिधुरा-बाम का चित्र होवे।
तो तू जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना।
प्यारे हो के चकित जिस से चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी ॥६८॥
जो कोई भी इस सदन में चित्र उद्यान का हो।
औ प्राणी हो बिपुल उस में घूमते बावले से।
तो तू जाके निकट उस के औ हिला के उसे भी।
कंसारी को सुरति ब्रज के व्याकुलों की कराना ॥६९॥
कोई प्यारा-कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है ॥७०॥

जो प्यारे मंजु-उपवन या वाटिका में खड़े हों।
छिद्रों में जा क्वणित करना वेणु लौं कीचकों को।
यों होवेगी सुरति उन को सर्व गोपांगना की।
जो वंशी के श्रवन हित हैं दीर्घ उत्कण्ठ होतीं ॥७१॥

ला के फूले कमलदल को श्याम के सामने ही।
थोड़ा थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना।
यों देना तू भगिनि जतला एक अंभोजनेत्रा।
आँखों को हो विरह-विधुरा वारि में बोरती है ॥७२॥

धीरे लाना वहन कर के नीप का पुष्प कोई।
औ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना।
यों देना तू प्रगट दिखला नित्य आशंकिता हो।
कैसी होती विरहवश मैं नित्य रोमांचिता हूं ॥७३॥

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम हों तू उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजित चित का क्लान्त हो काँप जाना ॥७४॥

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो तू पांवों निकट उस को श्याम के ला गिराना।
यों सीधे तू प्रगट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना ॥७५॥

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे तू।
धीरे धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता लौं हमारा ॥७६॥

यों प्यारे को विदित कर के सर्व मेरी व्यथायें।
धीरे धीरे वहन कर के पांव की धूलि लाना।

थोड़ी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमें तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूंगी ॥७७॥

जो ला देगी चरणरज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी परम उस को अंग में मैं लगाके।
पोतूंगी जो हृदय तल में वेदना दूर होगी।
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख में ले मलूंगी ॥७८॥

तू प्यारे का मृदुल स्वर ला मिष्ट जो है बड़ा ही।
जो यों भी है क्षरण करती स्वर्ग की सी सुधा को।
थोड़ा भी ला श्रवणपुट में जो उसे डाल देगी।
मेरा सूखा हृदयतल तो पूर्ण उत्फुल्ल होगा ॥७९॥

भीनी भीनी सुरभि सिगरे पुष्प की पोषिका सी।
मूलीभूता अवनितल में कीर्ति कस्तूरिका की।
तू प्यारे के नवलतन की बास ला दे निराली।
मेरे ऊबे व्यथित चित में शान्तिधारा बहा दे ॥८०॥

होते होवें पतित कण जो अङ्गरागादिकों के।
धीरे धीरे वहन कर के तू उन्हीं को उड़ा ले।
कोई मालाकुसुम प्रिय के कंठसंलग्न जो हो।
तो यत्नों से विकच उसका पुष्प ही एक ला दे ॥८१॥

पूरी होवें न यदि तुझ से अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी बिनय इतनी मान ले औ चली जा।
छू के प्यारे कमलपग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊंगी हृदयतल में मैं तुझी को लगा के ॥८२॥

भ्रांता हो के परम दुख औ भूरि उद्विग्नता से।
ले के प्रातः मृदुपवन को या सखी आदिकों को।
यों ही राधा प्रगट करती नित्य थीं वेदनायें।
नाना चिन्ता हृदयतल में वर्द्धमाना महा थी ॥८३॥

सप्तम सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

ऐसा आया यक दिवस जो मर्म्मभेदी महा था ।
धाता ने ही दुखित भव के चित्रितों को बिलोका ।
धीरे धीरे तरणि निकला काँपता दग्ध होता ।
काला काला ब्रजअवनि में शोक का मेघ छाया ॥१॥

देखा जाता पथ जिन दिनों नित्य ही श्याम का था ।
ऐसा खोटा यक दिन उन्हीं बासरों मध्य आया ।
आँखें नीची जिस दिन किये डूबते शोकबीची ।
देखा आते सकल-ब्रज ने नन्द गोपादिकों को ॥२॥

खो के होवे बिकल जितना आत्म-सर्वस्व कोई ।
होती हैं ज्यों स्वमणि जितनी सर्प को बेदनायें ।
दोनों प्यारा कुंवर तज के ग्राम में आज आते ।
पीड़ा होती अधिक उस से गोकुलाधीश को थी ॥३॥

लज्जा से वे प्रथित-पथ में पांव भी थे न देते ।
जी होता था ब्यथित हरि का पूछते ही संदेसा ।
बृक्षों में हो बिपथ चल वे आ रहे ग्राम में थे ।
ज्यों ज्यों आते निकट महि के मध्य जाते गड़े थे ॥४॥

पाँवों को वे यदपि बल के साथही थे उठाते ।
तो भी वे थे न उठ सकते हो गये थे मनों के ।
मानों यों वे गृह गमन से नन्द को रोकते थे ।
संक्षुब्धा हो प्रबल बहती शोक-धारा जहां थी ॥५॥

यानों से हो पृथक तज के संग भी साथियों का ।
थोड़े लोगों सहित गृह की ओर वे आ रहे थे ।
बिक्षिप्तों सा बदन उन का आज जो देख लेता ।
हो जाता था ब्यथित अतिही कष्ट पाता महा था ॥६॥

दोनों आँखें परम-कृश से फूटती थी निराशा ।
छाई जाती बदन पर भी शोक की कालिमा थी ।

सीधे जो थे न पग पड़ते भूमि में वे बताते।
चिन्ता द्वारा चलित नँद के चित्त की वेदनायें ॥७॥
भादोंवाली भयद रजनी सूचि-भेद्या अमा की।
ज्यों होती है असित अति ही छा गये मेघ-माला।
त्योंही सारे-व्रज-सदन का हो गया शोक गाढ़ा।
तातों वाले व्रज नृपति को देख आता अकेले ॥८॥
एकाकी ही श्रवण कर के कंत को सद्म आता।
दौड़ी द्वारे जननि हरि की क्षिप्त की भांति आईं।
वोही आये व्रज अधिप भी सामने शोक डूबे।
दोनों ही के हृदयतल की वेदना थी समाना ॥९॥
आते ही वे निपतित हुईं बेलि उन्मूलिता सी।
दोनों पांवों निकट पति के हो महा खिद्यमाना।
संज्ञा आई फिर जब उन्हें यत्न द्वारा जनों के।
रोती रोती अति व्यथित हो यों पती साथ बोलीं ॥१०॥

मालिनी छन्द।

प्रिय-पति वह मेरा प्राणप्यारा कहां है।
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहां है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूं।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहां है ॥११॥
पल पल जिस के मैं पंथ को देखती थी।
निशिदिन जिस के ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिस के ही सोहती मुक्तमाला।
वह नवनलिनी से नेत्रवाला कहाँ है ॥१२॥
मुझ विजित-जरा का एक आधारा जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनों का उँजाला।
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहां है ॥१३॥

प्रतिदिन जिस को मैं अंक में नाथ लेके।
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी।
अति प्रिय जिस को है वस्त्र पीला निराला।
वह किशलय के से अंगवाला कहां है ॥१४॥

बर-बदन बिलोके फूल अंभोज ऐसा।
करतल-गत होता ब्योम का चंद्रमा था।
मृदु-रव जिस का है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमयकारी मानसों का कहां है ॥१५॥

रस-मय बचनों से नाथ जो सर्वदा ही।
सदन बिच बहाता स्वर्ग-मंदाकिनी था।
श्रुति-बिच टपकाता बूंद जो था सुधा की।
वह नव-खनि न्यारी मंजुता की कहां है ॥१६॥

स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी।
मम परम-निराशा-यामिनी का विनाशी।
ब्रज जन बिहगों के बृन्द का मोद-दाता।
वह दिनकर शोभी रामभ्राता कहां है ॥१७॥

मुख पर जिस के है सौम्यता खेलती सी।
अनुपम जिस का हूँ शील सौजन्य पाती।
परदुख लख के है जो समुद्विग्न होता।
वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहां है ॥१८॥

निविड़तम निराशा जो भरा गेह में था।
निज मुख-दुति से है जो उसे ध्वंसकारी।
सुखकर जिस से है कामिनी जन्म मेरा।
वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहां है ॥१९॥

सह कर कितने ही कष्ट औ संकटों को।
बहु यजन करा के पूज के निर्जरों को।

यक सुअन मिला है जो मुझे यत्नद्वारा।
प्रियतम! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहां है ॥२०॥
मुखरित करता जो सद्म को था शुकों सा।
कलरव करता था जो खगों सा बनों में।
सुध्वनित पिक लौं जो वाटिका को बनाता।
वह बहु विध कंठों का विधाता कहां है ॥२१॥
खग मृग जिसके थे गान से मत्त होते।
तरुगण-हरियाली थी महा दिव्य होती।
पुलकित करती थी जो लताबेलि सारी।
उस कल मुरली का नादकारी कहां है ॥२२॥
जिस प्रिय बिन सूना ग्राम सारा हुआ है।
सकल सदन में ही छा गई है उदासी।
जिस बिन व्रजभू में है न होता उँजाला।
वह निपट निराली कान्तिवाला कहां है ॥२३॥
बन बन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों।
शुक भर भर आँखें गेह को देखता है।
सुधि कर जिसकी है शारिका नित्य रोती।
वह निधि मृदुता का मंजु मोती कहां है ॥२४॥
गृह गृह अकुलाती गोप को पत्नियां हैं।
पथ पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो।
जिस कुंवर बिना मैं हो रही हूं अधीरा।
वह खनि सुषमा का स्वच्छ हीरा कहां है ॥२५॥
मम उर कँपता था कंस आतंक ही से।
पल पल डरती थी क्या न जाने करेगा।
पर परम पिता ने की बड़ी ही कृपा है।
वह निज कृत पापों से नसा आप ही जो ॥२६॥

अतुलित बलवाले मल्ल कूटादि जो थे।
वह गज गिरि ऐसा लोक-आतंक-कारी।
उर बिच उपजाते भीति थोड़ी नहीं थे।
पर यमपुर-वासी ए सभी हो चुके हैं ॥२७॥

भयप्रद जितनी थीं और बाधा अनेकों।
यक यक कर के वे हो गईं दूर सारी।
प्रियतम! अनसोची ध्यान में भी न आई।
यह अभिनव कैसी आपदा आ पड़ी है ॥२८॥

मृदु किशलय ऐसा पंकजों के दलों सा।
वह नवल सलोने गात का तात मेरा।
इन सब पवि ऐसे देह के दानवों का।
नहिं कर सकता था नाश कल्पान्त में भी ॥२९॥

पर हृदय हमारा ही हमें है बताता।
सब शुभ-फल पाती हूं किसी पुण्य ही का।
यह परम अनूठा पुण्य ही पापनाशी।
इस कुसमय में है क्यों नहीं काम आता ॥३०॥

प्रिय-सुत सग भ्राता क्यों नहीं सद्म आया।
बर नगर छटा को देख के क्या लुभाया?।
वह कुटिल जनों के बीच में जा पड़ा है।
प्रियतम! उसको या राज्य का भोग भाया ॥३१॥

मधुर बचन से औ भक्ति भावादिकों से।
अनुनय विनयों से प्यार की उक्तियों से।
सब मधुपुर-वासी बुद्धिशाली जनों ने।
अतिशय अपनाया क्या ब्रजाभूषणों को ॥३२॥

बहु बिभव वहां का देख के श्याम भूला।
वह बिलम गया या बृन्द में बालकों के।

फँस कर जिस में हा ! लाल छूटा न मेरा ।
सुफलक-सुत ने क्या जाल कोई बिछाया ॥३३॥
परम शिथिल हो के पंथ की क्लान्तियों से ।
वह ठहर गया है क्या किसी बाटिका में ।
प्रियतम ! तुम से या दूसरों से जुदा हो ।
वह भटक रहा है या कहीं मार्ग ही में ॥३४॥
विपुल कलित कुंजें कालिंदी कूलवाली ।
अतुलित जिन में थी प्रीति मेरे प्रियों की ।
पुलकित चित से वे क्या उन्हीं में गये हैं ।
कतिपय दिवसों की श्रान्ति उन्मोचने को ॥३५॥
विविध सुरभिवाली मण्डली बालकों की ।
मम युगल सुतों ने क्या कहीं देख पाई ।
निज सुहृद जनों में बत्स में धेनुओं में ।
बहु बिलम गये वे क्या इसी से न आये ॥३६॥
निकट अति अनूठे नीप फूले फले के ।
कलकल बहती जो धार है भानुजा की ।
अति प्रिय सुत को है दृश्य न्यारा वहां का ।
वह समुद उसे ही देखने क्या गया है ॥३७॥
सित सरसिज ऐसे गात के श्याम भ्राता ।
यदुकुल उपजे हैं बंश के हैं उँजाले ।
यदि वह कुलवालों की पड़े प्रीति में है ।
सुत सदन अकेले ही चला क्यों न आया ॥३८॥
यदि वह अति नेही शील सौजन्य शाली ।
तज कर निज भ्राता को नहीं सद्म आया ।
ब्रजअवनि बता दो नाथ कैसे बसेगी ।
बिन बदन बिलोके आज मैं क्यों बचूंगी ॥३९॥

प्रियतम! अब मेरा कंठ में प्राण आया।
सच सच बतला दो प्राण प्यारा कहां है।
यदि मिल न सकेगा जीवनाधार मेरा।
तब फिर निज पापी प्राण मैं क्यों रखूंगी ॥४०॥
विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम बतला दो लाल मेरा कहां है।
यह सब अनचाहा रत्न ले क्या करूंगी।
मम परम अनूठा रत्न ही नाथ ला दो ॥४१॥
उस बर-धन को मैं मांगती चाहती हूं।
उपचित जिससे है बंश की बेलि होती।
सकल जगत प्राणी मात्र का बीज जो है।
विभव जिस बिना है बिश्व का व्यर्थ होता ॥४२॥
इन अरुण प्रभा के रंग के पाहनों की।
मम सदन बता दो कौन सी न्यूनता है।
प्रति पल उर में है लालसा बर्द्धमाना।
उस परम निराले लाल के लाभ ही की ॥४३॥
युग दृग जिस से हैं ज्योति स्वर्गीय पाते।
उर तिमिर नसाता जो प्रभापुंज से है।
कल दुति जिसकी है चित्त उत्ताप खोती।
वह अनुपम हीरा नाथ मैं चाहती हूं ॥४४॥
कटि-पट लख पीले रत्न दूंगी लुटा मैं।
तन पर सब नीले रत्न को वार दूंगी।
सुत-मुख-छवि न्यारी आज जो देख पाऊं।
बहु अपर अनूठे रत्न भी बाँट दूंगी ॥४५॥
धन बिभव अनेकों-रत्न सँतान आगे।
रज-कण सम हैं औ तुच्छ हैं वे तृणों से।

पति यह सब लाये पुत्र को त्याग ऐसे।
मणि-गण तज कोई काँच ज्यों सद्म लावे ॥४६॥
परम-सुयश वाले कोशलाधीश ही हैं।
प्रिय-सुत बन जाते ही नहीं जी सके जो।
यह हृदय हमारा वज्र से ही बना है।
वह नहिं अब भी जो सैकड़ों खंड होता ॥४७॥
निज प्रियमणि को जो सर्प खोता कभी है।
शिर पटक धरा पै प्राण है त्याग देता।
मम सदृश मही में कौन पापीयसी है।
हृदय-मणि गवाँ के नाथ जो जीविता हूँ ॥४८॥
लघुतर-सफरी भी भाग वाली बड़ी है।
अलग सलिल से हो प्राण जो त्यागती है।
अहह अवनि में मैं भाग्यहीना-महा हूँ।
प्रिय-सुत बिछुड़े जो आज लौं जी सकी हूँ ॥४९॥
परम पतित मेरे पातकी-प्राण ए हैं।
यदि नहिं अब भी हैं गात को त्याग देते।
अहह दिन न जानें कौन सा देखने को।
दुखमय तन में ए निर्म्ममों से रुके हैं ॥५०॥
विधिबस इन में हा! शक्ति बाकी नहीं है।
तन तज सकने की क्षीणताधिक्यता से।
वह इस अवनी में भाग्यवाली बड़ी है।
अवसर पर सोवे मृत्यु के अंक में जो ॥५१॥
बहु कलप चुकी हूँ दग्ध भी हो चुकी हूँ।
जग कर कितनी ही रात मैं रो चुकी हूँ।
अब नहिं उर में है रक्त का लेश बाकी।
तन बल सुख आशा मैं सभी खो चुकी हूँ ॥५२॥

लख सुखित न होगा चन्द्र आनंद कोई ।
नहिं अमित उमंगों की कलायें कढ़ेंगी ।
यह अवगत होता है सुनी बात द्वारा ।
अब बह न सकेगी शान्ति-पीयूष-धारा ॥५३।
प्रिय बिन अति-सूना ग्राम सारा लगेगा ।
निशि दिवस बड़ी ही खिन्नता से कटेंगे ।
समधिक ब्रज में जो छा गई है उदासी ।
अब वह न टलेगी औ सदा ही खलेगी ॥५४॥
बहुत सह चुकी हूं और कैसे सहूंगी ।
पवि सदृश कलेजा मैं कहाँ पा सकूंगी ।
इस कृशित हमारे गात को प्राण त्यागो ।
दुख विवश नहीं तो नित्य रो रो मरूंगी ॥५५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे ।
हा ! प्राणों के परम-प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे ।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले ।
हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्रतारे हमारे ॥ ५६ ॥

कैसे होके अलग तुझसे आज लौं मैं बची हूँ ।
जो मैं ही हूं समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊं ।
हाँ जीऊंगी न अब, पर है बेदना एक होती ।
तेरा प्यारा बदन मरती बार मैंने न देखा ॥५७॥
यों ही बातें बिविध कहते अश्रुधारा बहाते ।
धीरे धीरे यशुमति लगीं चेतना-शून्य होने ।
जो प्राणी थे निकट उनके या वहां, भीत होके ।
नाना यत्नों सहित उनको वे लगे दोष देने ॥ ५८ ॥

आवेगों से बिकल अति ही नन्द थे पूर्व ही से ।
कांता को यों व्यथित लख के शोक में और डूबे ।

बोले ऐसे बचन जिन से चित्त में शान्ति आवे।
आशा होवे उदय उर में नाश पावे अनाशा ॥ ५६॥

धीरे धीरे श्रवण कर के नन्द की बात प्यारी।
जाते जो थे बपुष तज के प्राण वे लौट आये।
आँखें खोलीं हरि-जननि ने कष्ट से और बोलीं।
क्या आवेगा कुँवर ब्रज में नाथ दो ही दिनों में ॥ ६० ॥

सारी पीड़ा हृदयतल की भूल के नन्द बोले।
हाँ आवेगा कुँवर ब्रज में बाम दो ही दिनों में।
ऐसी बात कथन कितनी और भी नन्द ने कीं।
जैसे तैसे हरि-जननि को धीरता से प्रबोधा ॥ ६१ ॥

जैसे कोई पतित कण पा स्वाति के नीरदों का।
थोड़ो सी है परम तृषिता चातकी शान्ति पाती।
वैसे आना श्रवण करके पुत्र का दो दिनों में।
संज्ञा खोती यशुमति हुई स्वल्प आश्वासिता सी ॥ ६२ ॥

पीछे बातें बिविध करती काँपती कष्ट पाती।
आई लेके स्वप्रिय पति को सद्म में नंदबामा।
आशा की है अमित महिमा धन्य है देवि आशा।
जो छू के है मृतक बनते प्राणियों को जिलाती ॥ ६३ ॥



अष्टम सर्ग।

मन्दाक्रान्ता छन्द

पूरी यात्रा सदुख करके गोप जो गेह आये।
सारी-बातें प्रगट ब्रज में कष्ट से कीं उन्होंने।
जो आने की विविदिवस में बात थी खोजियों ने।
धीरे धीरे सकल उस का भेद भी जान पाया ॥१॥

आती बेला बदन सब ने नन्द का था बिलोका।
आँखों में भी सतत उन की म्लानता घूमती थी।
सारी-बातें श्रवणगत थीं हो चुकीं आगतों से।
कैसे कोई न फिर असली बात को जान जाता ॥२॥

दोनों प्यारे न अब ब्रज में आ सकेंगे कभी भी।
आँखें होंगी न अब सफला देख के कान्ति प्यारी।
कानों में भी न अब मुरली की सुतानें पड़ेंगी।
आवासों में सकल चरचा आज होती यही थी ॥३॥

सारे-प्राणी ब्रजधरणि के श्याम थे प्राणप्यारे।
नाना-आशा विपुल-जन की लग्न भी थी उन्हीं में।
चावों से था बदन उन का देखता ग्राम सारा।
क्यों हो जाता न उर-शतधा आज खोके उन्हीं को ॥४॥

बैठे नाना जगह कहते लोग थे बात नाना।
आवेगों का सकल थल में स्रोत था बृद्धि पाता।
देखो कैसे करुण-स्वर से एक आभीर बैठा।
लोगों को है सकल अपनी बेदनायें सुनाता ॥५॥

द्रुतविलम्बित छन्द

जब हुआ ब्रजजीवन-जन्म था।
बृज प्रफुल्लित था कितना हुआ।
उमगति कितनी नँदरानि थी।
पुलकता कितना चित नन्द था ॥६॥

विविध सुन्दर-बन्दनवार से ।
सकल द्वार हुए अभिराम थे ।
बिहँसते बृज-सद्म-समूह के ।
मुख लसी दसनावलि थी मनों ॥७॥

नव-रसाल-सुपल्लव के बने ।
अजिर में वर-तोरण थे बंधे ।
बिपुल-जीह बिभूषित था हुआ ।
वह मनों रस-लेहन के लिये ॥८॥

गृह गली मग मंदिर चौरहों ।
तरुबरों पर थी लसती ध्वजा ।
सुमुद सूचित थी करती मनों ।
वह समस्त-कथा सुरलोक को ॥९॥

बिपणि हो बर-वस्तु बिभूषिता ।
मलिन थी करती अलकापुरी ।
बर-बितान विमंडित ग्राम की ।
सुछबि थी अमरावति रंजिनी ॥१०॥

सजल कुंभ सुशोभित द्वार थे ।
सुमन-संकुल थी सिगरी गली ।
अति-सु-चर्चित थे सब चौरहे ।
रस प्रवाहित सा सब ठौर था ॥११॥

सकल धेनु सुसज्जित थीं हुई ।
बसन भूषण औ शिखिपुच्छ से ।
अति अपूर्व अलंकृत थी हुई ।
बिपुल-ग्वाल मनोरम मण्डली ॥१२॥

मधुर मंजुल मंगल गान की ।
मच गई बृज में बहु धूम थी ।

सरस औ अतिही मधुसिक्त थीं।
नवल कामिनि की कलकंठता ॥१३॥
विविध उत्सव की कमनीयता।
विपुलता-अतियाचक-वृन्द को।
प्रचुरता धन रत्न प्रदान की।
अति मनोरम औ रमणीय थी ॥१४॥
विविध भूषण वस्त्र विभूषिता।
वह विनोदवती वर बालिका।
विहँसती, गृह नन्द पधारती।
सुखद थीं कितना जनवृन्द को ॥१५॥
ध्वनि विभूषण की वह माधुरी।
वह अलौकिकता कल तान की।
मधुर वादन वाद्य समूह का।
हृदय के कितना अनुकूल था ॥१६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

या मैं ने था दिवस अतिही दिव्य ऐसा बिलोका।
या आँखों से मलिन अब हूं देखता बार ऐसा।
जो ऐसा ही दिवस मुझ को अन्त में था दिखाना।
तो क्यों तू ने निठुर बिधना! बार वैसा दिखाया ॥ १७ ॥
हा! मैंने क्यों सतिथि उतना नन्द को हृष्ट देखा।
जो दोनों को दुखित इतना आज मैं देखता हूं।
वैसा फूला सुखित ब्रज क्यों म्लान है नित्य होता।
हा! जीता क्यों यह दुख दशा देखने को रहा मैं ॥ १८ ॥
या देखा था अनुपम सजे द्वार औ प्राँगणों को।
आवासों को बिपणि सब को मार्ग को मंदिरों को।
या रोते से विषम जड़ता मग्न से आज ए हैं।
देखा जाता अटल जिन में राज्य मालिन्य का है ॥ १९ ॥

मैं ने आँखों सुरभि जितनी सज्जिता थी बिलोकी।
क्यों पाता हूँ अहह! उन को शोक में मज्जिता सी।
जो ग्वाले थे मुदित अति ही मग्न आमोद में हो।
हा! आहों से मथित अब मैं क्यों उन्हें देखता हूं ॥२०॥
भोलीभाली बहुबिध सजी बस्त्र आभूषणों से।
गानेवाली मधुर स्वर से सुन्दरी बालिकायें।
जो प्राणी के परम मुद की मूर्तियाँ थीं उन्हें क्यों।
खिन्ना दीना मलिनबसना देखने को बचा मैं ॥ २१ ॥
हा! बाद्यों की मधुर ध्वनि भी धूल में जा मिली क्या।
हा! कीला है किस कुटिल ने कामिनी कण्ठ प्यारा।
सारी शोभा सकल ब्रज की लूटता कौन क्यों है?।
हा! हा! मेरे हृदय पर यों सांप क्यों लोटता है ॥ २२ ॥
आगे आओ सहृदय जनों, संग आभीर छोड़ो।
देखो बैठी सदन कहती क्या कई कामिनी हैं।
रोते रोते बिपुल तिय की लाल आँखें हुई हैं।
जो रोतीं है कथन पहले हूं उसी का सुनाता ॥ २३ ॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

जब रहे ब्रजचन्द छ मास के।
दसन दो मुख जब थे लसे।
तब बड़े कुसुमोपम तल्प में।
वह उछाल रहे पद कंज थे ॥ २४ ॥
महरि पास खड़ी इस तल्प के।
छबि अनुत्तम थी अवलोकती।
अति मनोहर कोमल कंठ से।
कलित गान कभी करती रहीं ॥ २५ ॥
जब कभी जननी मुख चूमतीं।
कल कथा कहतीं चुमकारतीं।

उमँगना हँसना उस काल का।
अति अलौकिक था ब्रजचन्द का ॥२६॥
कुछ-खुले-मुख की सुषमा-मयी।
यह हँसी जननी-मन-रंजिनी।
लसित यों मुखमण्डल पै रही।
बिकच पंकज ऊपर ज्यों कला ॥२७॥
दसन दो हँसते मुख मंजु में।
दरसते अति ही कमनीय थे।
नवल कोमल पंकज कोष में।
विलसते विवि मौक्तिक हों यथा ॥२८॥
जननि के अति वत्सलता पगे।
ललकते विवि लोचन के लिये।
दसन थे रस के युग बीज से।
सरस धार सुधा सम थी हँसी ॥२९॥
जब सुव्यंजक भाव बिचित्र के।
निकलते मुख-अस्फुट शब्द थे।
तब कई अधरांबुधि से कढ़े।
जननि को मिलते वर रत्न थे ॥३०॥
गगन सांध्य समान सु ओष्ठ थे।
दसन थे युगतारक से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनन्दिनी ॥३१॥
विमल चन्द विनिन्दक माधुरी।
विकच वारिज की कमनीयता।
बदन में जननी बलबीर के।
निरखती बहु विश्व बिभूति थी ॥३२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

मैं ने आँखों यह सब महा मोह नन्दांगना का।
देखा है औ सहस मुख से भाग को है सराहा।
छा जाती थी बदन पर जो हर्ष की कान्त लाली।
सो आँखों को अकथ रस से सिंचिता थी बनाती ॥३३॥

हा! मैं ऐसी प्रमुद-प्रतिमा मोद-आन्दोलिता को।
जो पाती हूं मलिन-बदना शोक में मज्जिता सी।
तो है मेरा हृदय मलता बारि है नेत्र लाता।
दावा सी है दहक उठती गात-रोमावली में ॥ ३४ ॥

जो प्यारे का बदन लख के स्वर्ग-सम्पत्ति पाती।
लूटे लेती सकल निधियाँ श्यामली-मूर्ति देखे।
हा! सो सारे अवनितल में देखती है अँधेरा।
थोड़ी सी भी न लख पड़ती ज्योति आशा जहां है ॥३५॥

हा! भद्रे हा! सरलहृदये! हा! सुशीला यशोदे।
हा! सद्वृत्ते! सुरद्विजरते! हा! सदाचार-रूपे।
हा! शान्ते! हा परम-सुव्रते! कष्ट देता महा है।
तेरा होना नियति कर से विश्व में बंचिता यों ॥३६॥

बोली बाला अपर बिधि की चाल ही है निराली।
ऐसी ही है मम हृदय में वेदना आज होती।
मैं भी बीती भगिनि, अपनी आह! देतो सुना हूं।
संयता हो फिर सुमुखि ने बात आरंभ यों की ॥३७॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

जननि-मानस पुण्य-पयोधि में।
लहर एक उठी सुख-मूल थी।
वह सु-बासर था ब्रज के लिये।
जब चले घुटनों ब्रज-चन्द थे ॥३८॥

उमगते जननी मुख देखते।
किलकते हँसते जब लाड़िले।
अजिर में घुटनों चलते रहे।
बितरते तब मोद अपार थे॥ ३९॥

बिमल व्योम-बिराजित चंद्रमा।
सदन शोभित दीपक की शिखा।
जननि अंक विभूषण के लिये।
परम कौतुक की प्रिय-बस्तु थी॥४०॥

नयन रंजन अंजन मंजु सी।
जब कभी रज श्यामल गात की।
जननि थीं कर से निज पोंछती।
उलहती तब बेलि बिनोद थी॥४१॥

जब कभी कुछ ले कर पाणि में।
बदन में ब्रजनन्दन डालते।
चकित-लोचन से अथवा कभी।
निरखते जब बस्तु विशेष थे॥ ४२॥

प्रकृति के नख थे तब खोलते।
विविध ज्ञान मनोहर ग्रंथि को।
दमकती तब थी द्विगुणी शिखा।
महरि मानस मंजु प्रदीप की॥ ४३॥

कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के।
चरण भूपर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ कटिकिंकिणी।
ध्वनित हो उठने गृह में लगी॥ ४४॥

ठुमुकते गिरते पड़ते हुए।
जननि के कर की उँगली गहे।

जाना जाता नहिं प्रियतमे कौन सा पाप जागा।
खोने ऐसा सुख-सदन जो आज है नष्ट होता।
अंगों में जो परम सुभगा थी न फूली समाती।
हा! पाती हूं बिरह-दव में दग्ध होती उसी को ॥५२॥

हा! क्या सारे दिवस सुख के हो गये स्वर्गगामी।
या डूबे जा सलिलनिधि के गर्भ में वे दुखी हो।
आ के छाई महिषि-मुख में म्लानता है कहां की।
हा! देखूँगी न अब उस को क्या खिले पद्म सा मैं॥५३॥

बातें सारी इस रमणि की शोक-संताप-सानी।
धीरे धीरे श्रवण कर के एक बाला प्रवीणा।
खिन्ना हो हो बिपुल पहले व्यग्रता साथ रोई।
पीछे आहें अमित भर के यों व्यथा साथ बोली ॥५४॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

निकल के निज सुन्दर सद्म से।
जब लगे ब्रज में हरि घूमने।
जब लगी करने अनुरंजिता।
नगर को पद-पंकज-लालिमा ॥५५॥

तब हुई मुदिता शिशु-मण्डली।
सकल बाम बनीं बहु हर्षिता।
विविध कौतुक और बिनोद की।
बिपुलता ब्रज मंडल में हुई ॥५६॥

पहुँचते जब थे गृह में किसी।
ब्रज लला हँसते मृदु बोलते।
ग्रहण थीं करती अति चाव से।
तब उन्हें सब सद्म निवासिनी ॥५७॥

मधुर भाषण से गृह-बालिका।
अति समादर थीं करती सदा।

सरस माखन औ दधि दान से।
मुदित थीं करती गृह-स्वामिनी ॥५८॥
कमल लोचन भी कल उक्ति से।
सकल को करते अति मुग्ध थे।
कलित क्रीड़न नूपुर नाद से।
भवन भी बनता अति भव्य था ॥५९॥
स-बलराम स-बालक मण्डली।
विहरते बहु मन्दिर में रहे।
विचरते हरि थे अकले कभी।
विविध वस्त्र विभषण से सजे ॥६०॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

ऐसे सारी ब्रजअवनि के एक ही लाड़िले को।
छीना कैसे किस कुटिल ने क्यों कहां कौन बेला।
हा! क्यों घोला गरल उसने स्निग्धकारी रसों में।
कैसे छींटा सरस कुसुमोद्यान में कंटकों को ॥६१॥
लीलाकारी ललित गलियों, लोभनीयालयों में।
क्रीड़ाकारी कलित कितने केलिवाले थलों में।
कैसे भूला ब्रज अवनि को कूल को कालिंदी के।
क्या थोड़ा भी हृदय मलता लाड़िले का न होगा ॥६२॥
क्या देखूंगी न अब कढ़ता इन्दु को आलयों में।
क्या फूलेगा न अब गृह में पद्म सौंदर्य्यशाली।
मेरे खोटे दिवस अब क्या मुग्ध-कारी न होंगे।
क्या प्यारे का न अब मुखड़ा मन्दिरों में दिपेगा ॥६३॥
हाथों में ले मधुर दधि को दीर्घ उत्कण्ठता से।
घंटों बैठी कुंवर-पथ जो आज भी देखती है।
हा! क्या ऐसी सरलहृदया सद्म की स्वामिनी की।
वांछा होगी न अब सफला श्याम को देख आँखों ॥६४॥

भोली भाली विपुल गृह की सुन्दरी बालिकायें।
जो प्यारे के कथन कल की आज भी उत्सुका हैं।
क्रीड़ाकांक्षी सकल शिशु जो आज भी हैं स-आशा।
हा! धाता, क्या न अब उनकी कामना सिद्ध होगी ॥६५॥

प्रातः बेला यक दिन गई नन्द के सद्म मैं था।
बैठी लीला महिषि अपने लाल का देखती थीं।
नाना क्रीड़ा कलित कर के श्याम थे मोद देते।
होठों में भी अनुपम हँसी देवि के सोहती थी ॥ ६६ ॥

ज्यों हीं आँखें मुझ पर पड़ीं प्यार के साथ बोलीं।
देखो कैसा कलित चलता लाड़िला है तुम्हारा।
क्रीड़ा में है निपुण कितना है कलावान कैसा।
पाके ऐसा वर सुअन मैं भाग्यमाना हुई हूं ॥६७॥

होवेगा सो सुदिन जब मैं आँख से देख लूंगी।
पूरी होती सकल अपने चित्त की कामनायें।
ब्याहूंगी मैं जब सुअन को औ लहूंगी बधूटी।
तो जानूंगी अमरपुर की सिद्धि है सद्म आई ॥ ६८ ॥

ऐसी बातें बिबिध कहती प्यार से थीं यशोदा।
होता जाता हृदय उनका उत्स आनन्द का था।
हा! ऐसी ही हृदय-तल में शोक है आज छाया।
रोऊं मैं या यह सब कहूं या मरूं क्या करूं मैं ॥ ६९ ॥

यों ही बातें बिबिध कह के कष्ट के साथ रोके।
आवेगों से व्यथित बन के दुःख से दग्ध होके।
सारे प्राणी ब्रज अवनि के दर्शनाशा सहारे।
प्यारे से हो पृथक अपने बार को थे बिताते ॥ ७० ॥

नवम सर्ग

शार्दूलविक्रीडित छन्द

एकाकी ब्रजदेव एक दिन थे बैठे हुए सद्म में।
उत्सन्ना-ब्रजभूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बड़ी।
ऊधो-संज्ञक-ज्ञान-वृद्ध उनके जो एक सन्मित्र थे।
वे आये इस काल ही सदन में आनन्द में मग्न से ॥ १ ॥

आते ही मुख-म्लान देख हरि का वे दीर्घ-उत्कण्ठ हो।
बोले क्यों इतने मलीन प्रभु हैं? है बेदना कौन सी।
फूले-पुष्प-बिमोहिनी-बिकचता क्या हो गई आपको।
क्यों है नीरसता प्रसार करती उत्फुल्ल-अंभोज में ॥२॥

बोले बारिद-गात पास बिठला सन्मान से बन्धु को।
प्यारे सर्व-विधान ही नियति का व्यामोह से है भरा।
मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यन्त-उन्मुक्त था।
पाता हूं अब मैं नितान्त उस को आबद्ध कर्तव्य में ॥ ३ ॥

शोभा-अद्भुत-शालिनी-बृज धरा-प्यारो पगी-गोपिका।
माता-प्रीति-मयी सनेह-प्रतिमा, बात्सल्य-धाता-पिता।
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनको देती व्यथा है महा ॥ ४ ॥

जी में बार अनेक बात यह थी मेरे उठी मैं चलूं।
प्यारी-भाव-मयी सु-भूमि ब्रज में दोही दिनों के लिये।
बीते मास कई परन्तु अबलौं इच्छा न पूरी हुई।
नाना कार्य-कलाप की जटिलता होती गई बाधिका ॥ ५ ॥

पेचीले-अति-राजनीति-पचड़े जो वृद्धि हैं पा रहे।
यात्रा में बृज-भूमि की अहह वे हैं बिघ्नकारी बड़े।
आते बासर हैं नवीन जितने लाते नये प्रश्न हैं।
होता है उनका दुरूहपन भी व्याघातकारी महा ॥ ६ ॥

प्राणी है यह सोचता समझता मैं पूर्ण स्वाधीन हूँ।
इच्छा के अनुकूल कार्य्य सब मैं हूं साध लेता सदा।
ज्ञाता हैं कहते मनुष्य बश में है काल कर्म्मादि के।
होती है घटना-प्रवाह-पतिता-स्वाधीनता यंत्रिता ॥ ७ ॥

देखो यद्यपि है अपार, ब्रज के प्रस्थान की कामना।
होता तद्यपि मैं निरस्त नित हूं नाना प्रपञ्चों पड़ा।
ऊधो दग्ध बियोग से ब्रज-धरा है हो रही नित्यशः।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से ॥ ८ ॥

मेरे हो तुम बंधु बिज्ञ-वर हो आनन्द की मूर्ति हो।
क्यों मैं जा ब्रज में सका न अबलों हो जानते भी इसे।
कैसी हैं अनुरागिनी हृदय से माता, पिता गोपिका।
प्यारे है यह भी छिपी न तुम से जाओ अतः प्रातही ॥६॥

जैसे हो लघु बेदना हृदय का औ दूर होवे व्यथा।
पावे शान्ति समस्त-लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में।
ऐसे ही बर-ज्ञान तात ब्रज को देना बताना क्रिया।
माता का स-बिशेष तोष करना औ वृद्ध-गोपेश का ॥१०॥

जो राधा वृष भानु-भूप-तनया स्वर्गीय दिव्यांगना।
शोभा है ब्रज-प्रान्त की अवनि की स्त्रीजाति की वंश की।
होगी हा! वह देवि मग्न अति ही मेरे वियोगाब्धि में।
जो हो संभव तात पोत बन के तो त्राण देना उसे ॥११॥

यों ही बात अनेक श्याम-बपु ने प्यारे सखा से कहीं।
मर्य्यादा व्यवहार आदि ब्रज का पूरा बताया उन्हें।
ऊधो ने सब को स-धीरज सुना स्वीकार जाना किया।
पीछे हो कर के बिदा सुहृद से आये निजागार वे ॥१२॥
प्रातःकाल अपूर्व-यान मँगवा औ साथ ले सारथी।
ऊधो गोकुल को चले सदय हो स्नेहाम्बु से भींगते।

वे आगे जिस काल कान्त-ब्रज में देखा महा-मुग्ध हो।
श्री बृन्दाबन को मनोज्ञ-मधुरा श्यामायमाना-मही ॥१३॥
चूड़ायें जिसकी प्रशान्त-नभ में थीं दीखती दूर से।
ऊधो को स-पयोद के पटल सी सद्द्रुम की राशि से।
सो गोबर्धन शैल-श्रेष्ठ अधुना था सामने दृष्टि के।
सत्पुष्पों सुफलों प्रशंसित द्रुमों से दिव्य सर्वांग हो ॥१४॥
ऊँचा शीश सहर्ष शैल कर के था देखता व्योम को।
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या बार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूं सुन्दर मान-दण्ड ब्रज की शोभा मयी-भूमि का ॥१५॥
पुष्पों से परिशोभमान शतशः जो वृक्ष अंकस्थ थे।
वे उद्घोषित थे सदर्प करते उत्फुल्लता मेरु की।
या ऊँचा कर के स-पुष्प कर को फूले द्रुमों व्याज से।
श्री-पद्मा-पति के सरोज-पग को शैलेश था पूजता ॥१६॥
नाना निर्झर हो प्रसूत गिरि के ससिक्त उत्संग से।
हो हो शब्दित थे सवेग गिरते अत्यन्त सौन्दर्य्य से।
जो छींटें उड़तीं असंख्य नभ में थीं दृष्टि को मोहती।
शोभा थी अतिही अपूर्व उनके उत्थान की, पात की ॥१७॥
प्यारा था अति ही प्रवाह उनका सद्वारि-सम्पन्न हो।
जो प्रायःबहता बिचित्र-गति से रम्य-स्थलों मध्य था।
सीधे ही वह था कहीं विहरता होता कहीं बक्र था।
नाना-प्रस्तर खंड साथ टकरा, था घूम जाता कहीं ॥१८॥
होता निर्झर का प्रवाह जब था सावर्त उद्भिन्न हो।
तो होती उसमें अपूर्व-ध्वनि थी उन्मादिनी कर्ण की।
मानों यों वह था सहर्ष कहती सत्कीर्ति शैलेश की।
या गाता गुण था अचिन्त्य-गति का सानन्द सत्कण्ठ से ॥१६
गर्तों में गिरि की दरी-बिपुल में,जो बारि था दीखता।
सो निर्जीव, मलीन, तेजहत था, उच्छ्वास से शून्य था।

पानी निर्झर स्वच्छ, उज्ज्वल महा, उल्लास की मूर्त्ति था।
देता था गति-शील-वस्तु गरिमा यों प्राणियों को बता ॥२०॥

देता था सु-प्रवाह-उत्स उर में ऐसी उठी कल्पना।
धारा है वह मेरु से प्रसवती स्वर्गीय आनन्द की।
या है भूधर सानुराग द्रवता अंकस्थितों के लिये।
आँसू है वह ढालता विरह से किम्बा ब्रजाधीश के ॥२१॥

ऊधो को पथ में पयोद-स्वन सी गंभीरता-पूरिता।
हो जाती ध्वनि एक कर्ण-गत थी प्रायः सुदूरा गता।
होती थी श्रुति-गोचरा अब वही न्यारी ध्वनी पास ही।
उद्भूता गिरि के किसी बिबर से सद्वायु-संसर्गतः॥२२॥

सद्भावाश्रयता अचिन्त्य-दृढ़ता निर्भीकता उच्चता।
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी-क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भंगिमा।
मानों शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का ॥२३॥

होती थीं मृदु-वायु साथ जिनकी दोलायमाना शिखा।
शाखायें जिनकी बिहंग-बहु से थीं शोभिता शब्दिता।
चारों ओर बिशाल-शैल-बर के थे राजते कोटिशः।
ऊँचे श्यामल पत्र-मान-बिटपी पुष्पोपशोभी महा ॥२४॥

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिंशपा इङ्गुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े ॥२५॥

ऊँचे दाड़िम से रसाल-तरु थे औ आम्र से शिंशपा।
यों निम्नोच्च असंख्य-पादप कसे बृन्दाटवी बीच थे।
मानों वे अवलोकते पथ रहे वृन्दाबनाधीश का।
ऊँचा शीश उठा मनुष्य-जनता के तुल्य उत्कण्ठ हो ॥२६॥

वंशस्थ-छन्द

गिरिन्द्र में व्याप बिलोकनीय थी।
बनस्थली बीच प्रशंसनीय थी।
अनूप शोभा अवलोकनीय थी।
असेत जम्बालिनि-कूल जम्बु की ॥२७॥

सुपक्वता पेशलता अपूर्वता।
फलादि की मुग्धकरी-बिभूति थी।
रसाप्लुता सी बन की बसुंधरा।
रसालता थी करती रसाल की ॥२८॥

सु-वर्तुलाकार बिलोकनीय था।
बिनम्र-शाखा नयनाभिराम थी।
अपूर्व थी श्यामल-पत्र राशि में।
कदम्ब के पुष्प-कदम्ब की छटा ॥२९॥

स्वकीय-पंचांग प्रभाव से सदा।
बनस्थली बीच निरोगता बढ़ा।
किसी गुणी-बैद्य समान था खड़ा।
स्वनिम्बता-गर्बित-वृक्ष-निम्ब का ॥३०॥

लिये हथेली समगात-पत्र में।
बड़े अनूठे-फल श्यामरंग के।
सदा खड़ा स्वागत के निमित्त था।
प्रफुल्लितों सा फल-वान-फालसा ॥३१॥

सुरम्य-शाखा-दल-पल्लवादि में।
न डोलते थे फल मंजु-भाव से।
प्रकाश वे थे करते शनैः शनैः।
सदम्बु-निम्बू-तरु की सदम्बुता ॥३२॥

दिखा फलों की बहुधा अपक्वता।
स्वपत्तियों की स्थिरता-विहीनता।
लखा रहा था कमनीयता लिये।
उतावलों को तरु-आँवला क्रिया ॥३३॥

रसाल गूदा छिलका मलीन में।
कु-बीज गूदा-मधुमान अंक में।
दिखा फलों में बर-पोच-बंश का।
रहस्य लीची-तरु था बता रहा ॥३४॥

बिलोल-जिह्वा-युत रक्त-पुष्प से।
सुदन्त-शोभी-फल भग्न-अंक से।
बढ़ा रही थी बन की बिचित्रता।
समाद्रिता दाड़िम की द्रुमावली ॥३५॥

हिला स्व शाखा नव-पुष्प सो खिला।
नचा सु-पत्रावलि औ फलादि ला।
नितान्त ही था मन-पान्थ मोहता।
सुकेलि-कारी तरु-नारिकेल का ॥३६॥

नितान्त लघ्वी घनता बिवर्धिनी।
असंख्य-पत्रावलि अंकधारिणी।
अगाढ़-छाया-मयि पुष्पशोभिनी।
अम्लान काया-इमिली सुमौली थी ॥३७॥

सु-चातुरी से किस के न चित्त को।
निमग्न सा था करता बिनोद में।
स्वकीय न्यारी-रचना बिमुग्ध हो।
स्व-शीश-संचालन-मग्न शिंशपा ॥३८॥

सु-पत्र संचालित थे न हो रहे।
नहीं स शाखा हिलते फलादि थे।

जता रहे थे निज स्नेह-शीलता ।
स्व-इङ्गितों से तरु-वृन्द इङ्गुदी ॥३९॥
सुवर्ण-ढाले-तमगे कई लगा ।
हरे सजीले निज-वस्त्र को सजे ।
बड़े-अनूठेपन साथ था खड़ा ।
महा-रंगीला तरु-नारँगी बना ॥४०॥
अनेक-आकार-प्रकार-रंग के ।
सुधा समोये फल-मंजु से सजा ।
बिराजता अन्य रसाल तुल्य था ।
समोदकारी अमरूद रोदसी ॥४१॥
स्व-अंक में पत्र प्रसून मध्य में ।
लिये फलों व्याज सु-मूर्त्ति शंभु की ।
सदैव पूजा रत सानुराग था ।
विलोलता-वर्जित-वृक्ष-बिल्व का ॥४२॥
कु अगजों की बहु कष्टदायिता ।
बता रही थी जन-नेत्र वान को ।
स्व-कंटकों से स्वयमेव सर्वदा ।
बिदारता हो बदरी-द्रुमावली ॥४३॥
समस्त-शाखा फल फूल मूल की ।
सु-पल्लवों की मृदुता मनोज्ञता ।
प्रफुल्ल होता चित था नितान्त ही ।
विलोक सागौन सुगीत सांगता ॥४४॥
नितान्त ही थी नभ-चुम्बनोत्सुका ।
समुच्चता-पादप की सु-मूर्त्ति थी ।
खगादि की थी अनुराग-वर्द्धिनी ।
बिशालता-शाल-बिशाल-काय की ॥४५॥

स्वगात की श्यामलता प्रभूत से।
हरीतिमा से घन-पत्र-पुंज की।
अछिद्र छायादिक से बनस्थली।
तमोमयी सी करता तमाल था ॥४६॥

बिचित्रता दर्शक-बृन्द दृष्टि में।
सदा समुत्पादन में समर्थ था।
स-दर्प नीचा तरु-पुंज को दिखा।
स्व-शीश उत्तोलन ताल-बृन्द का ॥४७॥

सु-पक्क पीले फल-पुंज ब्याज से।
अनेक बालेन्दु स्वअंक में उगा।
उड़ा दलों ब्याज हरी हरी ध्वजा।
नितान्त केला कल-केलि-लग्न था ॥४८॥

स्वकीय पुष्पावलि रक्त-वर्ण से।
बिहंग भृंगादिक को भ्रमा भ्रमा।
अशंकितों सा बनमध्य था खड़ा।
प्रवंचना-शील विशाल शाल्मली ॥४९॥

बढ़ा स्व-शाखा मिस हस्त प्यार का।
दिखा घने-पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी-जन तुल्य सर्वदा।
अशोक था शोक स-शोक मोचता ॥५०॥

विमुग्ध-कारी सित-पीत-वर्ण के।
सुगंध-शाली बहुशः सु-पुष्प से।
असंख्य-पत्रावलि की हरीतिमा।
सुरंजिता थी तरु-पारिजात की ॥५१॥

समीर-संचालित-पत्र-पुंज में ।
स्वगात की मत्तकरी-बिभूति से ।
बिक्षुब्ध हो बिह्वलता-विशिष्ट था ।
मधूक प्राणी-मधुपान-मत्त सा ॥५२॥

प्रकाण्डता थी बिभु कीर्त्ति-बर्द्धिनी ।
अनन्त-शाखा-बहु-व्यापमान थी ।
प्रकाशिका थी गति बायु रीतिशः ।
बिलोलता-पीपल-पल्लवोद्भवा ॥५३॥

असंख्य-न्यारे-फल पुंज-से सजा ।
प्रभूत-पत्रावलि में निमग्न सा ।
प्रगाढ़-छाया-प्रद औ जटा-प्रसू ।
विटानुकारी-बट था बिराजता ॥५४॥

महा-फलों-वान बनस्थली बनी ।
~जता रही थी जन-बुद्धि-मन्त को ।
महान-सौभाग्य मुझे प्रदान में ।
प्रयोगिता है पनसोपयोगिता ॥५५॥

सदैव देके बिष बीज व्याज से ।
स्वकीय-मीठे-फल के समूह को ।
दिखा रहा था तरु बृन्द में खड़ा ।
स्व-आततायीपन पेड़ आत का ॥५६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

प्यारे-प्यारे-कुसुम-कुल से शोभमाना अनूठी ।
काली नीली हरित रंग की पत्तियों से सजीली ।
फैली सारी बन अवनि में बायु से डोलती थीं ।
नाना-बेली मृदुल-लतिका औ ललामा-लतायें ॥ ५७ ॥

वंशस्थ-छन्द

स्व-सेत-आभा-मय दिव्य पुष्प से ।
बसुंधरा में अति-मुक्त संज्ञका ।
विराजती थी बन में बिनोदिता ।
महान-मेधाविनि-माधवी-लता ॥५८॥

ललामता कोमलता स्वकीय से ।
अनूपता पेलव पत्र-पुंज से ।
स्वलोचनों को करती प्रलुब्ध थी ।
•प्रलोभनीया-लतिका लवंग की ॥५९॥

स-मान थी मेदिनि में बिलुण्ठिता ।
प्रवँचिता हो प्रिय चारु-अंक से ।
तमाल के से असितावदात की ।
प्रियोपमा श्याम-लता प्रियंगु की ॥६०॥

कहीं शयाना महि में स-चाव थी ।
बिलम्बिता थी तरु-बृन्द में कहीं ।
सु-बर्ण-मापी-फल लाभ कामुका ।
तपोरता कानन रत्तिका लता ॥६१॥

सु-लालिमा में फलकी लगी लखा ।
बिलोकनीया-कमनीय-श्यामता ।
कहीं भली है बनती कु-वस्तु भी ।
बता रही थी यह मंजु-गुंजिका ॥६२॥

द्रुतबिलम्बित छन्द

नव निकेतन दिव्य-हरीतिमा ।
जनयिता मुरली-मधु-पूरिता ।

विपुलता संग था बन में लसा ।
भवन भावुकता तरु वेणुका ॥६३॥

बहु-प्रलुब्ध बना पशु-वृन्द को ।
बिपिन के तृण-खादक-जंतु को ।
तृण-समा कर नीलम नीलिमा ।
मसृण थी तृण-राजि बिराजती ॥६४॥

तरु अनेक उपस्कर सज्जिता ।
अति-मनोरम-काय अकंटका ।
छविवती करती बन-भूमि थीं ।
कुसुमिता-फलिता बहु-झाड़ियाँ ॥६५॥

शिखरणी छन्द

अनूठी आभा से सरस-सुखमा से सुरस से ।
बना जो देती थी बहु गुणमयी भू बिपिन की ।
निराले फूलों की बिविध दलवाली अनुपमा ।
जड़ी बूटी नाना बहु फलवती थीं बिलसती ॥६६॥

द्रुतविलम्बित छन्द

सरसतालय सुन्दरता सने ।
मुकुर-मंजुल से तरु-पुंज के
बिपिन में सर थे बहु सोहते ।
सलिल से लसते मन मोहते ॥६७॥

लस रही लहरें-रसमूल थीं ।
सब सरोवर के कल अंक में ।
प्रकृति के कर थे लिखते मनों ।
कल कथा कमनीय-ललामता ॥६८॥

दुतिमती दिननायक दीप्ति से।
स-दुति बारि सरोबर का बना।
अति-अनूपम कान्ति निकेत था।
कुलिश सा कल-उज्ज्वल-काँच सा ॥६९

परम-स्निग्ध मनोरम पत्र में।
सु बिकसे जलजात-समूह से।
सर समस्त अलंकृत थे हुए।
लसित थीं दल पै कमलासना ॥७०॥

बिकच-बारिज-पुंज बिलोक के।
उपजती उर में यह कल्पना।
बहु-प्रफुल्लित लोचन-चारु से।
बन-छटा लखते सरबृन्द हैं ॥७१॥

वंशस्थ छन्द

सुकूल-वाली कलि-कालिमापहा।
बिचित्र-लीला-मयि बीचि-संकुला।
बिराजमाना बन एक ओर थी।
कलामयी केलिवती-कलिन्दजा ॥७२॥

असेत-धारा सरिता-सकान्ति में।
सु-सेतता ही मिलिता प्रदीप्ति की।
दिखा रही थी दुति नील-कान्त में।
समन्विता हीरक-ज्योति-पुंज सी ॥७३॥

बिलोकनीया नभ नीलिमा समा।
नवाम्बुदों की कल-कालिमोपमा।
नवीन तीसी कुसुमोपमेय थी।
कलिन्दजा की कमनीय श्यामता ॥७४॥

न बास किम्बा विष-कालिनाग से ।
प्रभाव से भूधर के न भूमि के ।
नितान्त ही केशव-ध्यान-मग्न हो ।
पतंगजा थी असितांगिनी बनी ॥७५॥

स-बुद्बुदा फेन-युता सु-शब्दिता ।
अनन्त-आवर्त्त-मयी प्रफुल्लिता ।
अनूपता-अन्वित थी प्रवाहिता ।
तरंगमालाकुलिता-कलिन्दजा ॥७६॥

प्रसूनवाले, फल-भार से नये ।
अनेक थे पादक कूल सोहते ।
स्वछाययो वे करते प्रगाढ़ थे ।
दिनेशजा-अंक-प्रसूत-श्यामता ॥७७॥

कभी खिले-फूल गिरा प्रवाह में
कलिन्दजा को करता स-पुष्प था ।
गिरे फलों से फल-शोभनी उसे ।
कभी बनाता तरु का समूह था ॥७८॥

बिलोक ऐसी तरुवृन्द की क्रिया ।
विचार होता यह था स्वभावतः ।
कृतज्ञता से नत हो स-प्रेम वे ।
पतंगजा-पूजन में प्रवृत्त हैं ॥७९॥

प्रवाह होता जब बीचि-हीन था ।
रहा दिखाता बन-अन्य अंक में ।
परन्तु होते सरिता तरंगिता ।
स-वृत्त होता बन था सहस्रधा ॥८०॥

न कालिमा है मिटती कपाल की।
न बाप को है पड़ती कुमारिका।
प्रतीति होती महती बिलोक के।
तमोमयी सी तनया तमारि को ॥८१॥

मालिनी छन्द

कलित-किरण-माला, बिम्ब-सौंदर्य्य-शाली।
सु-गगन तल-शोभी दिव्य छायापती का।
छवि-मय करती थी दर्शकों के दृगों को।
जब रवितनया ले अंक में क्रीड़ती थी ॥८२॥

वंशस्थ छुन्द

हरा तमा का सु-बिशाल-सिंधु सा।
मनोज्ञता की रमणीय-भूमि सा।
बिचित्रता का शुभ-सिद्ध-पीठ सा।
प्रशान्त-बृन्दाबन दर्शनीय था ॥८३॥

कलोलकारी खग-बृन्द-कूजिता।
सदैवसानन्द-मिलिन्द-गुंजिता।
रहीं सुकुंजें बन में बिराजिता।
प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी ॥८४॥

समस्त-शाखा नहिं हस्त के समा।
प्रसारिता थीं उपपत्ति के बिना।
प्रलुब्ध थी पादप को बना रही।
लता-समालिंगन-लाभ-लालसा ॥८५॥

कई निराले-तरु-चारु अंक में।
लुभावने-पल्लव-लाल थे लसे।

सदैव वे थे करते बिवर्द्धिता ।
स्वलालिमा से बन की ललामता ॥८६॥

प्रसून-शोभी तरुपुंज-अंक में ।
लता अनेकों लपटी प्रफुल्लिता ।
जहां तहां थीं बन में विराजिता ।
स्मिता समालिंगित कामिनी समा ॥८७॥

अतीव-लालित्य लिये सु-दूलिता ।
कहीं स-एलालतिका-लवंग थी ।
कहीं लसी थी महि मंजु अंक में ।
सु-लालिता सी नव माधवी-लता ॥८८॥

समीर संचालित-मंद-मंद हो ।
कहीं दलों से करता स-केलि था ।
प्रसून-बर्षा-रत था, कहीं हिला ।
स-पुष्प शाखा-सु लता-प्रफुल्लिता ॥८९॥

कहीं उठाता बहु-मंजु-वीचि था ।
कहीं खिलाता कलिका प्रसून था ।
बड़े अनूठेपन साथ पास जा ।
कहीं हिलाता कमनीय कंज था ॥९०॥

असेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी ।
हरे अबीरी सित पीत संदली ।
विचित्र-बेशी बहु अन्य बर्ण के ।
विहंग से थी लसिता बनस्थली ॥९१॥

विभिन्न-आभा रुत-रंग-रूप के ।
विहंगमों का दल व्योम-पंथ हो ।

स-मोद आता जब था दिगंत से।
बिशेष होता बन का बिनोद था ॥९२॥

स-मोद जाते जब एक-पेड़ से।
द्वितीय को थे करते बिमुग्ध थे।
कलोल में हो रत मंजु-बोलते।
बिहंग नाना रमणीय रंग के ॥९३॥

छटामयी कान्तिमती मनोहरा।
स-चन्द्रिका से निज-नील पुच्छ के।
सदा बनाता बन को स-कान्त था।
कलापियों का कुल केकिनी लिये ॥९४॥

कहीं शुकों का दल बैठ पेड़ की।
फली सु-शाखा पर केलि-मत्त हो।
अनेक मीठे फल खा कदंश को।
निपातता मेदिनि में समोद था ॥९५॥

कहीं कपोती स्व-कपोत को लिये।
बिनोदिता हो करती बिहार थी।
कहीं सुनाती निज-कंत साथ थी।
स्व-काकली को कल कंठ-कोकिला ॥९६॥

कहीं महा-प्रेमिक था पपीहरा।
कथा-मयी थी नव शारिका कहीं।
कहीं कला लोलुप थी चकोरिका।
ललामता आलय-जाल थे कहीं ॥९७॥

महा-कदाकार बड़े भयावने।
सुहावने सुन्दरता निकेत से।

बनस्थली में पशु-वृन्द थे घने।
अनेक लीला-मय औ लुभावने ॥९८॥

निशान्त-सारल्य-मयी-सुमूर्त्ति में।
मिली हुई कोमलता सु-लोमता।
किसे नहीं थी करती विमोहिता।
सदंगता सुन्दरता-कुरंग की ॥९९॥

असेत-आँखें खनि-भूरि भाव की।
सुगीत न्यारी गति की अनूपता।
मनोहरा थी मृग गात-माधुरी।
सुधारियों अंकित नाति पीतता ॥१००॥

असेत-रक्तानन-वान ऊधमी।
प्रलम्ब लांगूल विभिन्न लोम के।
कहीं महा-चचंल क्रूर कौशली।
असंख्य शाखा मृग का समूह था ॥१०१

कहीं गठीले-अरने अनेक थे।
स-शंक भूरे शशकादि थे कहीं।
बड़े घने निर्जन बन्य भूमि में।
विचित्र चीते चल चक्षु थे कहीं ।१०२।

सुहावने पीवर-ग्रीव साहसी।
प्रमत्त गामी पृथुलांग गौरवी।
बनस्थली बीच विशाल बैल थे।
बड़े बली उन्नत-बक्ष विक्रमी ॥१०३॥

दयावती पुण्य भरी पयोमयी।
सु-आनना सौम्य-दृगी समोदरा।

बनान्त में थीं सुर भी सुशोभिता।
सभी सवत्सा-सरलातिसुन्दरी ॥१०४॥

अतीव-प्यारे मृदुता-सुमूर्ति से।
नितान्त-भोले चपलांग कौतुकी।
हरे भरे कानन बीच कूदते।
लुभावने कोमल-काय वत्स थे ॥१०५॥

बसन्ततिलका छन्द।

जो राज-पंथ-बन मेदिनि में बना था।
धीरे उसी पर सधा रथ जा रहा था।
हो हो विमुग्ध लखते सह सारथी थे।
ऊधो छटा विपिन को अति ही अनूठी ॥१०६॥

वंशस्थ छन्द।

परन्तु वे पादप में प्रसून में।
फलों दलों बेलिलता समूह में।
सरोबरों में सरि में सु-मेरु में।
खगों मृगों में बन में निकुंज में ॥१०७॥

बसी हुई एक निगूढ़-खिन्नता।
बिलोकते थे निज-सूक्ष्म-दृष्टि से।
शनैः शनैः जो बहु गुप्त रीति से।
रही उगाती उर में व्यथा लता ॥१०८॥

समस्त शाखा तरु-वृन्द की उन्हें।
प्रतीत होती उस हस्त तुल्य थी।
स-कामना जो नभ ओर हो उठा।
बिपन्न-पाता-परमेश के लिये ॥१०९॥

कलिन्दजा के सु-प्रवाह की छटा।
विहंग-क्रीड़ा कल नाद-माधुरी।
उन्हें बनाती न अतीव मुग्ध थी।
अनूपता-कुंज-लता-वितान की ॥११०॥

सरोवरों की सुषमा स-कंजता।
सु-मेरु औ निर्झर आदि रम्यता।
न थी यथातथ्य उन्हें विमोहती।
अनन्त-सौंदर्य्य-मयी बनस्थली ॥१११॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

कोई कोई बिटप फल थे बारहों मास लाते।
आँखों ऐसे असमय फले पेड़ को देख ऊधो।
हो जाते थे पतित भ्रम में किन्तु तत्काल ही वे।
सारी शंका स्व-मति बल औ ज्ञान से थे नसाते ॥११२॥

वंशस्थ छन्द।

उसी दिशा से जिस ओर दृष्टि थी।
बिलोक आता रथ में स-सारथी।
किसी किरीटी पट-पीट गौरवी।
सु-कुण्डली श्यामल-काय पान्थ को ॥११३॥

अतीव-उत्कण्ठित ग्वालबाल हो।
स-बेग जाते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही-मलीन थे।
न देखते थे जब वे मुकुन्द को ॥११४॥

अनेक गायें तृण त्याग दौड़तीं।
सबत्स जातीं बर-यान पास थीं।

परन्तु पाती जब थीं न श्याम को।
बिषादिता हो पड़ती नितान्त थीं ॥११५॥

अनेक-गायें बहु-गोप बाल की।
बिलोक ऐसी करुणामयी-दशा।
बड़े-सुधी ऊधव चित्त बीच भी।
स-खेद थी अंकुरिता अधीरता ॥११६॥

सु-यान ज्यों ज्यों बलबीर-बंधु का।
समीप था गोकुल ग्राम आ रहा।
उन्हें दिखाता निज-गूढ़ रूप था।
बिषाद त्यों त्यों बहु-मूर्त्ति-मन्त हो ॥११७॥

दिनान्त था थे दिननाथ डूबते।
स-धेनु आते गृह ग्वाल-बाल थे।
दिगन्त में गोरज थी समुत्थिता।
बिषाण नाना बजते स-वेणु थे ॥११८॥

खड़े हुए थे पथ गोप देखते।
स्वकीय-नाना-पशु बृन्द का कहीं।
कहीं उन्हें थे गृह-बीच बाँधते।
बुला बुला पूरित प्यार कंठ से ॥११९॥

घड़े लिये कामिनि औ कुमारियाँ।
अनेक-कूपों पर थीं सुशोभिता।
पधारती जो जल ले स्व-गेह थीं।
बजा बजा के निज नूपुरादि को ॥१२०॥

कहीं जलाते जन गेह-दीप थे।
कहीं खिलाते पशु को स-प्यार थे।

पिला पिला चंचल-बत्स को कहीं।
  पयस्विनी से पय थे निकालते ॥१२१॥

विचित्र-लीलाब्रजदेव गान की।
  मची हुई गोकुल बीच धूम थी।
स-प्रेम गाती जिसको सदैव थी।
  अनेक-कर्म्माकुल प्राणि-मण्डली ॥१२२॥

हुआ इसी काल प्रवेश ग्राम में।
  शनैः शनैः ऊधव दिव्य-यान का।
बिलोक आता जिसको, समुत्सुका।
  बियोग-दग्धा-जन-मण्डली हुई ॥१२३॥

जहाँ लगा जो जिस कार्य में रहा।
  उसे वहाँ ही वह छोड़ दौड़ता।
समीप आया रथ के प्रमत्त सा।
  बिलोकने को घन-श्याम-माधुरी ॥१२४॥

बिलोकते जो पशु-बृन्द पन्थ थे।
  तजा उन्हों ने पथ का बिलोकना।
अनेक दौड़े तज धेनु बाँधना।
  बिहीन-बाधा सरिता-प्रबाह लौं ॥१२५॥

पशू खिलाते निज-धेनु दूहते।
  प्रदीप जो थे निज-गेह बालते।
अधीर हो वे सब, त्याग के सभी।
  स-बेग दौड़े बदनेन्दु देखने ॥१२६॥

निकालती जो जल कूप से रहीं।
  स-रज्जु सो भी तज कूप में घड़ा।

अतीव हो आतुर दौड़ती गई।
ब्रजांगना वल्लभ को बिलोकने ॥१२७॥

तजा किसी ने जल से भरा घड़ा।
उसे किसी ने शिर से गिरा दिया।
समस्त दौड़ी सुधि गात की गँवा।
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने ॥१२८॥

बयस्क बूढ़े बहु बाल बालिका।
सभी समुत्कण्ठित औ अधीर हो।
सबेग आये ढिग मंजु यान के।
स्व-लोचनों की निधि-चारु लूटने ॥१२९॥

उमंग-डूबी अनुराग से भरी।
बिलोक आती जनता समुत्सुका।
पुनः उसे देख हुई प्रवंचिता।
महा-मलीना बिमनार्ति-कृष्टिता ॥१३०॥

अधीर होने हरि बन्धु भी लगे।
तथापि वे छोड़ सके न धीर को।
स्व-यान को त्याग लगे प्रबोधने।
समागतों को अति-शान्त-भाव से ॥१३१॥

वसंततिलका छन्द।

यों हीं प्रबोध करते पुर-बासियों का।
नाना कथा परम शान्ति-करी सुनाते।
आये ब्रजाधिप-निकेतन पास ऊधो।
पूरा प्रसार करती करुणा जहां थी ॥१३२॥

मालिनी छन्द ।

करुण-नयन वाले खिन्न उद्विग्न ऊबे ।
ब्रजपति सँग प्यारे बंधु औ सेवकों के ।
सुजन-सुहृद-ऊधो पास आये यहां हो ।
फिर सदन सिधारे वे उन्हें साथ लेके ॥१३३॥

सुफलक-सुत ऐसा ग्राम में देख आया ।
यक-जन मथुरा ही से बड़ा बुद्धिशाली ।
समधिक चितचिन्ता गोपजों में समाई ।
सब-पुर बहु शंका में लगा मग्न होने ॥१३४॥

पल पल अकुला के दीर्घ-संदिग्ध होके ।
बिचलित-चित से थे सोचते ग्राम-बासी ।
वह परम अनूठे रत्न को ले गया था ।
अब यह ब्रज आया कौन सा रत्न लेने १३५॥



दशम सर्ग

द्रुतविलम्बित छन्द।

त्रि घटिका निशि की गत थी हुई।
सकल गोकुल नीरव प्राय था।
ककुभ व्योम समेत शनैः शनैः।
तमवती बनती ब्रज भूमि थी ॥१॥

ब्रज-धराधिप मौन-निकेत भी।
बन रहा अधिकाधिक-शान्त था।
तिमिर भी उसके प्रति भाग में।
स्व-बिभुता करता बिधि-बद्ध था ॥२॥

हरि-सुमित्र समागम-सूत्र से।
ब्रज-रसापति-द्वार-समागता।
अब नहीं दिखला पड़ती रही।
गृह गता-जगता अति शंकिता ॥३॥

सकल-श्रांति नसा कर पंथ की।
कर समापन भोजन की क्रिया।
हरि सखा अधुना उपनीत थे।
दुति-भरे-सुथरे-यक-सद्म में ॥४॥

कृश-कलेवर व्यस्त महा दुखी।
मलिन आनन मज्जित-खिन्नता।
निकट ही उन के ब्रज भूप थे।
बिकलताकुलता-अभिभूत से ॥५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

आवेगों से विपुल बिकला शीर्ण काया कृशांगी ।
चिन्ता-दग्धा व्यथित-हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा ।
आसीना थी निकट पति के अम्बु-नेत्रा यशोदा ।
खिन्ना दीना विनत बदना मोह-मग्ना मलीना ॥६॥

द्रुतविलम्बित छन्द ।

अति-जरा-विजिता बहु-चिन्तिता ।
विकलता-ग्रसिता सुखवंचिता ।
सदन में कुछ थीं परिचारिका ।
अधिकृता-कृशता-अवसन्नता ॥७॥

मुकुर-उज्ज्वल मन्दिर मंजु में ।
मलिनता-अति थी प्रतिबिम्बिता ।
परम-नीरसता-सह-आवृता ।
सरसता-लुठिता-युत-वस्तु की ॥८॥

परम-आदर-पूर्वक प्रेम से ।
विपुल बात बियोग-व्यथा-हरी ।
हरि-सखा कहते इस काल थे ।
बहु दुखी अ-सुखी ब्रज-भूप से ॥९॥

कथन ऊधव का विनयोंभरा ।
विविध-भाव अनूपम में पगा ।
श्रवण थीं करती बन उत्सुका ।
कलपती-कँपती ब्रजपांगना ॥१०॥

निपट-नीरव-गेह न था हुआ ।
बरन हो वह भी बहु-मौन ही ।

सुन रहा बलबीर सुकीर्ति था ।
सुखकरी सिगरी ब्रज-भूमि की ॥११॥

मालिनी छन्द ।

निज मथित-कलेजे को करों साथ थामे ।
कुछ समय यशोदा ने सुनी सर्व-बातें ।
फिर बहु-बिमना हो ब्यग्र हो कंपिता हो ।
निज-सुजन-सखा से यों ब्यथा-साथ बोलीं ॥१२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

प्यासा प्राणी श्रवण करके बारि के नाम ही को ।
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न पावे ।
प्यारे होता नहिं तरणि का नाम ही त्राण-कारी ।
नौका ही है शरण जल में मग्न होते जनों की ॥ १३ ॥

रोते रोते कुंवर-पथ को देखते देखते ही ।
मेरी आँखें-युगल अति ही ज्योति-हीना हुई हैं ।
कैसे ऊधो जग-तम-हरी-ज्योति को वे लहेंगी ।
जो देखेंगी न मृदु-मुखड़ा इन्दु-उन्माद-कारी ॥ १४ ॥

सम्बादों से श्रवण-पुट भी पूर्ण से हो गये हैं ।
थोड़ा भी है न अब उन में स्थान सन्देश छूटा ।
सायं प्रायः प्रति-पल यही एक-बांछा उन्हें है ।
प्यारी-बातें मधुर-मुख की मुग्ध हो क्यों सुनूं मैं ॥१५॥

ऐसे भी थे दिवस जब थीं चित्त में कामनायें ।
सम्बादों को श्रवण करके कष्ट उन्मूलने की ।
ऊधो बीते दिवस अब वे, कामना हैं बिलीना ।
भोले भाले बिकच मुख की दर्शनोत्कण्ठता में ॥१६॥

प्यासे की है न जल-कण से दूर होती पिपासा ।
सम्बादों से न अभिलषित शान्ति पाता बियोगी ।

संतापों में यद्पि सुख है स्वल्प भी कार्य्य-कारी।
जो होती है तदुपरि व्यथा दुर्भगा सो महा है ॥१७॥

मालिनी छन्द

सुत सहज सनेहों का समाधार सा है।
सदय हृदय है औ सिंधु सौजन्य का है।
परम सरल है औ शिष्ट है शान्त भी है।
वह बहु बिनयी है मर्त्ति आत्मीयता है ॥१८॥

तुम सम मृदुभाषी धीर सद्बंधु ज्ञानी।
उस गुण-मय का है दिव्य सम्बाद लाया।
पर मुझ दुख-दग्धा भाग्यहीना-महा की।
यह दुखमय-दोषा वैसि ही है स-दोषा ॥१९॥

हृदय-तल दया के उत्स-सा श्याम का है।
वह पर-दुख को था देख उन्मत्त होता।
प्रिय-जननि उसी को आज है शोक-मग्ना।
वह मुख दिखला भी क्यों न जाता उसे है ॥२०॥

मृदुल-कुसुम-सा है औ तुने तूल-सा है।
नव-किसलय-सा है स्नेह के उत्स-सा है।
सदय-हृदय ऊधो स्याम का है बड़ा ही।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नहीं है ॥२१॥

कर-निकर कला के नाथ के स्निग्ध प्यारे।
प्रतापित कितनी ही बाम को हैं बनाते।
बिधि-बश दुख-दाई काल के कौशलों से।
कलुषित बनती है स्वच्छ-पीयूष धारा ॥२२॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

मेरे प्यारे स-कुशल सुखी और सानन्द तो है ?।
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ?।

ऊधो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो ?।
हो जाती है हृदयतल में तो नहीं बेदनायें ? ॥२३॥

मीठे-मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना।
धीरे प्यारों-सहित सुत को कौन होगी खिलाती।
प्रातः पीता सु-पय कजरी गाय का चाव से था।
हा! पाता है न अब उसको प्राण-प्यारा हमारा ॥२४॥

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उसको मांगने में सदा थी।
जैसे लेके स-रुचि सुत को अंक में मैं खिलाती।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन बामा सकेगी ॥२५॥

मैं थी सारा-दिवस मुख को देखते ही बिताती।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी।
हा! ऐसे ही अब बदन को देखती कौन होगी।
ऊधो माता-सदृश-ममता अन्य की है न होती ॥२६॥

खाने पीने शयन करने आदि की एक-बेला।
जो जाती थी कुछ टल कभी खेद होता बड़ा था।
ऊधो ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी।
माता की सी अवनितल में है अ-माता न होती ॥२७॥

जो पाती हूँ कुँवर-मुख के जोग मैं भोग-प्यारा।
तो होती हैं हृदय-तल में बेदनायें बड़ी ही।
जो कोई भी सु-फल सुत के योग्य मैं देखती हूं।
हो जाती हूं व्यथित-अति ही, दग्ध होती महा हूं ॥२८॥

जो लाती थीं बिबिध-रँग के मुग्धकारी खिलौने।
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी।
हा! जाती हैं पलट जब वे हो निराशा-निमग्ना।
तो उन्मत्ता-सदृश मग को ओर मैं देखती हूं ॥२९॥

आते-लीला निपुण-नट हैं आज भी बाँध आशा ।
कोई यों भी न अब उन के खेल को देखता है ।
प्यारे होते मुदित कितने कौतुकों से सदा थे ।
वे आँखों में बिषम-दव हैं दर्शकों के लगाते ॥३०॥
प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था ।
खाते खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था ।
ए बातें हैं सरस नवनी देखते याद आती ।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दुग्धकारी ॥३१॥
हा ! जो बंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी ।
सो आले में मलिन बन औ मूक हो के पड़ी है ।
जो छिद्रों से अमिय बरसा मूरि थी मुग्धता की ।
सो उन्मत्ता परम-बिकला उन्मना है बनाती ॥३२॥
प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है ? ।
क्या होता है न अब उस को ध्यान बूढ़े-पिता का ।
रो रो, हो हो बिकल अपने बार जो हैं बिताते ।
हा ! वे सीधे सरल-शिशु हैं क्या नहीं याद आते ॥३३॥
कैसे भूलीं सरस-खनि सी प्रीति की गोपिकायें ।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोपग्वाले ।
शान्ता धीरा मधुरहृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा ।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा-राधिका मोहमग्ना ॥३४॥
कैसे बृन्दा-बिपिन बिसरा क्यों लता-बेलि भूली ।
कैसे जी से उतर सिगरी कुंज-पुंजे गई हैं ।
कैसे फूले बिपुल-फल से नम्र भूजात भूले ।
कैसे भूला बिकच-तरु सो कालिंदी-कूल वाली ॥३५॥
सोती सोती चिहुँक कर जो श्याम को है बुलाती ।
ऊधो मेरी यह सदन की सारिका कान्त-कण्ठा ।
पाला पोसा प्रति-दिन जिसे श्याम ने प्यार से है ।
हा ! कैसे सो हृदय-तल से दूर यों हो गई है ॥३६॥

कुंजों कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया।
जो प्यारी थी परम, ब्रज के लाड़िले को सदाही।
खिन्ना दीना-बिकल बन में आज जो घूमती हैं।
ऊधो कैसे हृदय-धन को हाय! वे धेनु भूलीं ॥३७॥
ऐसा प्रायः अब तक मुझे नित्य ही है जनाता।
गो गोपों के सहित बन से सद्म है श्याम आता।
यों ही आके हृदय तल को बेधता मोह लेता।
मीठा-मीठा-मुरलि-रव है कान में गूँज जाता ॥३८॥
रोते रोते तनिक लग जो आँख जाती कभी है।
तो वोंही मैं युगल-दृग को चौंक के खोलती हूं।
प्रायः ऐसा प्रति-रजनि में ध्यान होता मुझे है।
जैसे आ के सुअन मुझको प्यार से है जगाता ॥३९॥
ऐसा ऊधो प्रति-दिन कई बार है ज्ञात होता।
कोई यों है कथन करता लाल आया तुम्हारा।
भ्रान्ता सो मैं अब तक गई द्वार पै बार लाखों।
हा! आँखों से न वह बिछुड़ी-श्यामली-मूर्त्ति देखी ॥४०॥
फूले-कंजों-सदृश-दृग से मोहते मानसों को।
प्यारे प्यारे बचन कहते खेलते मोद देते।
ऊधो ऐसी अनुमति सदा हाय! होती मुझे है।
जैसे आता निकल अबही लाल है मंदिरों से ॥४१॥
आ के मेरे निकट नवनी लालची लाल मेरा।
लीलायें था बिबिध करता धूम भी था मचाता।
ऊधो बातें न यक पल भी हाय! वे भूलती हैं।
हा! छा जाता युगल-दृग में आज भी सो समा है ॥४२॥
मैं हाथों से कुटिल-अलकें लाल को थी बनाती।
पुष्पों को थी युगल-श्रुति के कुण्डलों में सजाती।
मुक्ताओं को शिर मुकुट में मुग्ध हो थी लगाती।
पीछे शोभा निरख मुख की थी न फूले समाती ॥४३॥

मैं प्रायः ले कुसुमकलिका चाव से थी बनाती।
शोभा-वाले बिविध गजरा क्रीट औ कुण्डलों को।
पीछे प्यारो सहित इनको श्याम को थी पिन्हाती।
औ उत्फुल्ला ग्रथित-कलिका तुल्य थी पूर्ण होती ॥४४॥

पैन्हे प्यारे-बसन कितने दिव्य-आभूषणों को।
प्यारी-बाणी बिहँस-कहते पूर्ण-उत्फुल्ल होते।
शोभा-शाली-सुअन जब था क्रीड़ता सद्म मेरे।
तो पा जाती अमर-पुर की सर्व सम्पत्ति मैं थी ॥४५॥

होता राका-शशि उदय था फूलता पद्म भी था।
प्यारी-धारा उमग बहती चारु-पीयूष की थी।
मेरा प्यारा-तनय जब था गेह में नित्य ही तो।
बंशी-द्वारा मधुर-तर था स्वर्ग संगीत होता ॥४६॥

ऊधो मेरे दिवश अब वे हाय! क्या हो गये हैं।
हा! यों मेरे सुख-सदन को कौन क्यों है नसाता।
वैसे प्यारे-दिवस अब मैं क्या नहीं पा सकूंगी।
हा! क्या मेरी न अब दुख की यामिनी दूर होगी ॥४७॥

ऊधो मेरा-हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उस में कल्पना-क्यारियाँ थीं।
प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के बिपुल-बिटपी मुग्धकारी-महा थे ॥४८॥

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-बापिका थी।
लोनी-लोनी नवल-लतिका थीं अनेको-उमंगें।
धीरे-धीरे-मधुर हिलतीं बासना-बेलियां थीं।
सद्वांछा के बिहग उसके मंजु-भाषी बड़े थे ॥४९॥

प्यारा-प्यारा-मुख सुत-बधू-भाविनी का सलोना।
प्रायः होता प्रगट उस में फुल्ल-अम्भोज सा था।
बेटे द्वारा बिबि-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थीं बिकच बहुधा माधवी-पुष्पिता सी ॥५०॥

प्यारी-आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध होके।
तो होती थी अनुपम-छटा बाग के पादपों की।
हो जाती थीं सकल लतिका-बेलियाँ शोभनीया।
सद्भावों के सुमन बनते सौरभीले-बड़े थे॥ ५१॥
राका-स्वामी-सरस-सुख की दिव्य-न्यारी-कलायें।
धीरे धीरे पतित जब थीं स्निग्धता साथ होतीं।
तो आभा में अतुल-छवि में औ मनोहारिता में।
हो जाता सो अधिक-तर था नन्दनोद्यान से भी॥ ५२॥
ऐसा प्यारा-सरस अति हो रम्य उद्यान मेरा।
मैं होती हूँ व्यथित कहते आज है ध्वंस होता।
सूखे जाते सकल-तरु हैं नष्ट होती लता है।
निष्पुष्पा हो बिपुल-मलिना बेलियाँ हो रही हैं॥ ५३॥
प्यारे-पौधे कुसुम-कुल के पुष्प हो हैं न लाते।
भूले जाते बिहग अपनी बोलियाँ है अनूठी।
हा! जावेगा बिनस अति ही मंजु-उद्यान मेरा।
जो सींचेगा न घन-तन आ स्नेह-सद्वारि-द्वारा॥ ५४॥
ऊधो आदो तिमिर-मय था भाग्य-आकाश मेरा।
धीरे धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति-शाली।
ज्योतिर्माला-बलित उस में चन्द्रमा एक न्यारा।
प्यारा-प्यारा समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्ल-कारी॥ ५५॥
आभा-वाले उस गगन में हाय! दुर्भाग्यता की।
काली काली अब फिर घटा है महा-घोर छाई।
हा! आँखों से सुबिधु जिससे हो गया दूर मेरा।
ऊधो कैसे यह दुख-मयी मेघ-माला टलेगी॥ ५६॥
फूले-नीले-वनज-दल सा गात का रंग-प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोहिनी मंजु-बातें।
सोंधे-डूबी-अलक जब है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता॥ ५७॥

पीड़ा-कारी-करुण-स्वर से ही महा-उन्मना सी।
हा! रो रोके स-दुख जब यों सारिका पूछती है।
बंशीवाला हृदय-धन सो श्याम मेरा कहा है।
तो है मेरे हृदय-तल में शूल सा बिद्ध होता॥ ५८॥

त्यौहारों को अपर कितने पर्व औ उत्सवों को।
मेरा प्यारा-तनय अति हो-भव्य देता बना था।
आते हैं वे व्रज अवनि में आज भी किन्तु ऊधो।
दे जाते हैं परम दुख औ बेदना हैं बढ़ाते॥ ५९॥

कैसा-प्यारा जनम दिन था धूम कैसी मची थी।
संस्कारों के समय सुत के रंग कैसा जमा था।
मेरे जी में उदय जब वे दृश्य हैं आज होते।
हो जाती तो प्रबल-दुख से मूर्त्ति मैं हूं शिला की॥ ६०॥

कालिन्दी के पुलिन पर की मध्य-वृन्दाटवी की।
फूलोंवाले-बिटप ढिग की कुंज की आलयों की।
प्यारी-लीला-सकल जब हैं लाल की याद आती।
तो कैसा है हृदय मलता मैं बता क्यों उसे दूं॥ ६१॥

मारा मल्लोंसहित गज को कंस से पातकी को।
मेटीं सारी नगर-वर की दानवी-आपदायें।
छाया सच्चा-सुयस जग में पुण्य की बेलि बोई।
जो प्यारे ने स-पति-दुखिया-देवकी को छुड़ाया॥ ६२॥

जो होती है सुरत उनके कम्प-कारी दुखों की।
तो आँसू है बिपुल बहता आज भी लोचनों से।
ऐसी दग्धा परम-दुखिता जो हुई मोदिता है।
ऊधो तो हूं परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी॥ ६३॥

तो भी पीड़ा-परम इतनी बात से हो रही है।
काढ़े लेती मम हृदय क्यों स्नेह-शीला सखी है।
हो जाती हूं मृतक सुनती हाय! जो यों कभी हूं।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़िला है॥ ६४॥

मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूं सदा ही।
हा! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूंगी।
प्यारे जीवें प्रफुलित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते बदन दिखला और बारेक जावें ॥६५॥

नाना पूजा अपर कितने यत्नद्वारा जरा में।
मैंने ऊधो! सुकृति बल से एक ही पुत्र पाया।
सो जा बैठा अरि नगर में हो गया अन्य का है।
मेरी कैसी, अहह कितनी, मर्म्म-बेधी व्यथा है ॥६६॥

पत्रों पुष्पों रहित बिटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे।
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे ॥६७॥

अंभोजों से रहित न कभी अंक हो वापिका का।
पुष्पों-वाली कलित-लतिका पुष्प-हीना न होवे।
जो प्यारा है परम-धन है जीवनाधारा जो है।
ऊधो ऐसे रुचिर-बिटपी शून्य बाटी न होवे ॥६८॥

छीना जावे लकुट न कभी बृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल लेले किसी का।
पूंजी कोई जनम भर की गांठ से खो न देवे।
सोने को भी सदन न बिना दीप के हो किसी का ॥६९॥

उद्विग्ना औ बिपुल-बिकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू अलग जिस की आँख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित-फणि सो जी सकेगा बतादो।
जीवोन्मेषी रतन जिस के शीश का खो गया है ॥७०॥

कोई देखे न सब-जग के बीच छाया अँधेरा।
ऊधो कोई न निज-दृग की ज्योति-न्यारी गँवावे।
रो रो हो हो विकल न सभी बार बीतें किसी के।
पीड़ायें हों सकल न कभी मर्म्म बेधी व्यथा हो ॥७१॥

मेरी आशा नवल-लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले-पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदकों के।
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डंठियाँ थीं ॥७९॥

ऐसी आशा-ललित लतिका हो गई शुष्क-प्राया।
सारी शोभा रतन-जनिता नित्य है नष्ट होती।
जो आवेगा न अब ब्रज में श्याम-सत्कान्ति-शाली।
होगी हो के बिरस वह तो सर्वथा छिन्न मूला ॥८०॥

लोहू मेरे युगल दृग से अश्रु की ठौर आता।
रोयें रोयें सकल-तन के दग्ध हो छार होते।
आशा होती न यदि मुझ को श्याम के लौटने की।
मेरा सूखा-हृदयतल तो सैकड़ों खंड होता ॥८१॥

चिन्ता-रूपी मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी।
मेरी जैसी मृतक बनती हेतु संजीवनी है।
नाना-पीड़ा-मथित-मन के अर्थ है शान्ति-धारा।
आशा मेरे हृदय-मरु की मंजु-मंदाकिनी है ॥८२॥

ऐसी आशा सफल जिससे हो सके शान्ति पाऊं।
ऊधो मेरी सब-दुख-हरी-युक्ति-न्यारी वही है।
प्राणाधारा अवनि-तल में है यही एक आशा।
मैं देखूंगी पुनरपि वही श्यामली मूर्त्ति आँखों ॥८३॥

पीड़ा होती अधिकतर है बोध देते जभी हो।
सन्देशों से व्यथित चित है और भी दग्ध होता।
जैसे प्यारा-बदन सुत का देख पाऊं पुनः मैं।
ऊधो हो के सदय मुझ को यत्न वैही बतादो ॥८४॥

प्यारे-ऊधो कब तक तुम्हें वेदनायें सुनाऊं।
मैं होती हूं बिरत यह हूँ किन्तु तो भी बताती।
जो टूटेगी कुंवर-वर के लौटने की सु-आशा।
तो जावेगा उजड़ ब्रज औ मैं न जीती बचूंगी ॥८५॥

बातें सारी श्रवण करके स्वीय-बामांगिनी की।
धीरे बोले बृज-अवनि के नाथ उद्विग्न हो के।
जैसी मेरे हृदय तल में बेदना हो रही है।
ऊधो कैसे कथन उस को मैं करूं क्यों बताऊं ॥८६॥

छाया भू में निबिड़-तम था रात्रि थी अर्ध बीती।
ऐसी बेला भ्रम-बस गया भानुजा के किनारे।
जैसे पैठा तरल जल में स्नान की कामना से।
वैसे ही मैं तरणि-तनया-धार के मध्य डूबा ॥८७॥

साथी रोये बिपुल-जनता ग्राम से दौड़ आई।
तो भी कोई सदय बन के अर्कजा में न कूदा।
जो क्रीड़ा में परम-उमड़ी-कालिँदी पर जाते।
वे भी सारा-हृदय-बल खो त्याग बीरत्व बैठे ॥८८॥

जो स्नेही थे परम नित जो प्राण को वार देते।
वे भी हो के असित बिबिधा-तर्कना मध्य डूबे।
राजा हो के न अ-समय में पा सका मैं सु-साथी।
कैसे ऊधो कु-दिन अवनि-मध्य होते बुरे हैं ॥८९॥

मेरे प्यारे कुंवर-वर ने ज्यों सुनी कष्ट-गाथा।
दौड़े आये तरणि-तनया-मध्य तत्काल कूदे।
यत्नों-द्वारा पुलिन पर ला प्राण मेरा बचाया।
कर्तव्यों से चकित कर के कूल के मानवों को ॥९०॥

पूजा का था दिवस जनता थी महोत्साह-मग्ना।
ऐसी बेला मम निकट आ एक मोटे फणी ने।
मेरा दायां-चरण पकड़ा मैं कँपा लोग दौड़े।
तो भी कोई न मम-हित की युक्ति सूझी किसी को ॥९१॥

दौड़े आये कुंवर तबलौं औ कई-उल्मुकों से।
नाना ठौरों बपुष-अहि का कौशलों से जलाया।
ज्यों हीं छोड़ा चरण उसने त्यों उसे मार डाला।
पीछे नाना-जतन कर के प्राण मेरा बचाया ॥९२॥

जैसे जैसे कुंवर-बर ने हैं किये कार्य्य-न्यारे ।
वैसे ऊधो न कर सकते हैं महो विक्रमी भी ।
जैसी मैंने गहन उनमें बुद्धि-मत्ता बिलोकी ।
वैसी बृद्धों प्रथित-बिबुधों मंत्रदों में न देखी ॥ ९३ ॥

मैं ही होता चकित नहिं था देख कार्य्यावली को ।
जो लीलायें कुंवर लखता, था वही मुग्ध होता ।
मैं जैसाही सुखित अति था लाल पा दिव्य ऐसा ।
वैसाही हूं दुखित अब मैं काल-कौतूहलों से ॥ ९४ ॥

क्यों प्यारे ने सदय बन के डूबने से बचाया ।
जो यों गाढ़े-बिरह-दुख के सिन्धु में था डुबोना ।
यत्नों-द्वारा उरग-मुख के मध्य से क्यों निकाला ।
जो चिन्तायें-बिबिध ग्रसती आज आके मुझे हैं ॥ ९५ ॥

वंशस्थ-छन्द

निशा सिरानी नभ स्वेत हो गया ।
तथापि पूरी न व्यथा-कथा हुई ।
परन्तु फैली अवलोक लालिमा ।
स-नन्द ऊधो उठ सद्म से गये ॥ ९६ ॥

द्रुतविलम्बित छन्द

यदपि ऊधव के गृह-त्याग से ।
परि-समाप्त हुई दुख की कथा ।
पर सदा वह अंकित सी रही ।
हृदय-मंदिर में हरि-मित्र के ॥ ९७ ॥

—:०:—

एकादश सर्ग

मालिनी छन्द

यक-दिन छबि-शाली कालिँदी-कूल-शोभी ।
नव-किशलय-वाले पादपों-मध्य बैठे ।
सु-प्रथित कितनेही गोप को देख ऊधो ।
स-विनय ढिग बैठे जा उन्हीं के स्वयं भी ॥१॥

प्रथम सकल-गोपों ने उन्हें प्यार-द्वारा ।
बहु-बिध-सनमाना भक्ति के साथ पूजा ।
भर भर निज-आँखों में कई बार आँसू ।
फिर कह मृदु-बातें श्याम-सं-देश पूछा ॥२॥

परम-सरसता से स्नेह से स्निग्धता से ।
तब जन-सुख-दानी का सु-संबाद प्यारा ।
प्रबचन-पटु ऊधो ने सबों को सुनाया ।
कह कह बहु बातें शाति-कारी प्रबोधा ॥३॥

सुन कर निज-प्यारे का सु-संबाद, जी में ।
अतिशय-सुख पाया गोप की मंडली ने ।
पर-प्रिय-सुधि से औ प्रेम प्राबल्य-द्वारा ।
कतिपय-घटिका लौं सो रही उन्मनासी ॥४॥

फिर बहु मृदुता से स्नेह से धीरता से ।
सुप्रथित उन गोपों में बड़ा-बृद्ध जो था ।
वह ब्रज-धन प्यारे-बन्धु को मुग्ध-सा हो ।
सु-ललित निज बातों को सुनाने लगा यों ॥५॥

वंशस्थ छन्द

प्रसून यों ही न मिलिन्द बृन्द को।
बिमोहता औ करता प्रलुब्ध है।
बरंच प्यारा उस का सु-गंध ही।
उसे बनाता बहु-प्रीति-पात्र है ॥६॥

बिचित्र ऐसे गुण हैं ब्रजेन्दु में।
स्वभाव ऐसा उन का अपूर्व है।
निबद्ध सी है जिन में नितान्त ही।
ब्रजानुरागी-जन की बिमुग्धता ॥७॥

स्वरूप होता जिस का न भव्य है।
न वाक्य होते जिस के मनोज्ञ हैं।
अतीव-प्यारा बनता सदैव है।
मनुष्य सो भी गुण के प्रभाव से ॥८॥

अनूप जैसा घन-श्याम-रूप है।
तथैव वाणी उनकी रसाल है।
निकेत वे हैं गुण के, विनीत हैं।
बिशेष होगी उनमें न प्रीति क्यों ॥९॥

सरोज है दिव्य-सुगंध-से भरा।
नृलोक में सौरभवान स्वर्ण है।
सु-पुष्प से सज्जित पारिजात है।
मयंक है श्याम बिना कलंक का ॥१०॥

प्रवाहिता जो कमनीय-धार है।
कलिन्दजा की भवदीय-सामने।
बिदूषिता सो पहले अतीव थी।
बिनाश-कारी बिष-कालिनाग से ॥११॥

जहां-सुक्रीड़ा-मयि उक्त धार है।
वहीं बड़ा-विस्तृत एक कुण्ड है।
सदा उसी में रहता भुजंग था।
भुजंगिनी संग लिये सहस्रशः ॥१२॥

मुहुर्मुहुः श्वास-समूह सर्प से।
कलिन्दजा का कँपता प्रवाह था।
असंख्य फुत्कार प्रभाव से सदा।
विषाक्त होता सरिता सदम्बु था ॥१३॥

दिखा रहा सन्मुख जो कदम्ब है।
कहीं इसे छोड़ न एक वृक्ष था।
कलिन्दजा-कूल न एक कोस लौं।
हरा भरा था न प्रशंसनीय था ॥१४॥

कभी यहाँ का भ्रम या प्रमाद से।
कदम्बु पीता यदि था विहंग भी।
नितान्त तो व्याकुल औ विपन्न हो।
स्वप्राण को सो तजता तुरंत था ॥१५॥

बुरा यहाँ का जल पी, अनेकशः।
मनुष्य होते प्रतिवर्ष नष्ट थे।
कु-मृत्यु पाते इस ठौर नित्य थे।
सहस्रशः कीट पतंग औ पशू ॥१६॥

रही न जानें किस काल से लगी।
व्रजा पगा में यह व्याधि-दुर्भगा।
परन्तु वीरेन्द्र-मुकुन्द ने उसे।
नसा दिया स्वल्प-कृपा-कटाक्ष से ॥१७॥

प्रतप्त हो पूषण की मरीचि से।
अनेक-ग्वाले बहु-धेनु को लिये।
तृषार्त्त हो बासर एक भ्रान्त से।
गये किनारे पर अर्क-पुत्रि के ॥१८॥

परन्तु पीके जल ज्यों स-धेनु वे।
कलिन्द की नन्दनि-कूल से बढ़े।
अचेत वोंहीं सुरभी समेत हो।
जहाँ तहाँ मेदिनि-अंक में गिरे ॥१९॥

कढ़े इसी ओर स्वयं इसी घड़ी।
ब्रजांगना-बल्लभ दैव-योग से।
बचा जिन्होंने अति यत्न से लिया।
बिनष्ट होते बहु-प्राणी-पुंज को ॥२०॥

दिनेशजा दूषित-बारिपान से।
बिडम्बना थी यह हो गई यतः।
अतः इसी काल यथार्थ-रूप से।
ब्रजेन्द्र को ज्ञान हुआ फणीन्द्र का ॥२१॥

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा।
बिगर्हणा देख मनुष्य-मात्र की।
बिचार के प्राणि-समूह-कष्ट को
हुए समुत्तेजित बीर-केशरी ॥२२॥

हितैषणा से निज-जन्म-भूमि की।
अपार-आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनी महा बंक गँठी हुई भवें।
नितान्त-बिस्फारित नेत्र हो गये ॥२३॥

इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया।
सशंकता त्याग अशंक-चित्त से।
अवश्य निर्वासन ही विधेय है।
भुजंग का भानु-कुमारि-अंक से ॥२४॥

अतः करूंगा यह कार्य्य मैं स्वयं।
स्वहस्त में प्राण-स्वकीय को लिये।
स्व-जाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं।
न भीत हूंगा विषकाल-सर्प से ॥२५॥

सदा करूंगा अपमृत्यु सामना।
स-भीत हूंगा न सुरेन्द्र-वज्र से।
कभी करूंगा अवहेलना न मैं।
प्रधान-धर्मांग-परोपकार की ॥२६॥

प्रवाह होते तक शेष-श्वास के।
स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के।
किया करूंगा हितसर्वभूत का ॥२७॥

निदान न्यारी-निज-धारणा बँधे।
व्रजेन्दु आये दिन दूसरे यहीं।
दिनेश-आभा इस कालभूमि को।
बना रही थी महती-प्रभा-मयी ॥२८॥

व्यतीत था याम-द्वितीय हो रहा।
प्रसन्न था व्योम दिशा प्रफुल्ल थी।
उमंगिता थी सित-ज्योति-संकुला।
तरंग-माला-मयि-भानु-नन्दिनी ॥२९॥

विलोक सानन्द सुव्योम मेदिनी।
खिले हुए-पंकज पुष्पिता लता।
अतीव-उल्लासित हो स्व-बेणु ले।
कदम्ब के ऊपर श्याम जा चढ़े ॥३०॥

कँपा सु-शाखा बहु पुष्प को गिरा।
पुनः पड़े कूद प्रसिद्ध कुण्ड में।
हुआ समुद्भिन्न प्रवाह बारि का।
प्रकम्पकारी रव व्योम में उठा ॥३१॥

अपार-कोलाहल ग्राम में मचा।
बिषाद फैला ब्रज सद्म सद्म में।
बूजेश हो व्यस्त-समस्त दौड़ते।
खड़े हुए आकर उक्त कुण्ड पै ॥३२॥

असंख्य-प्राणी ब्रज-भूप साथ ही।
स-बेग आये दृग-बारि मोचते।
ब्रजांगना साथ लिये सहस्रशः।
बिसूरती आ पहुँचीं ब्रजेश्वरी ॥३३॥

द्वि दंड में ही जनता-अपार से।
तमारिजा का तट पूर्ण हो गया।
प्रकम्पिता हो बन-मेदिनी उठी।
बिषादितों के बहु-आर्त्त-नाद से।३४

कभी कभी क्रन्दन-घोर नाद को।
विभेद, होती श्रुत-गोचरा रही
महा-सुरीली-ध्वनि श्याम-बेणु की।
प्रदायिनी शान्ति बिशादवंत की ॥३५॥

ब्यतीत यों ही घटिका कई हुईं
पुनः स-हिल्लोल हुई पतंगजा।
प्रवाह उद्भेदित अंत में हुआ।
दिखा महा अद्भुत-दृश्य सामने ॥३६॥

कई फनों का अतिही-भयावना।
महा-कदाकार असेत-शैल सा।
बड़ा-बली-पन्नग-एक अंक से।
कलिन्दजा के कढ़ता दिखा पड़ा ॥३७॥

बिभीषणाकार-अनेक-पन्नगी।
कई बड़े-पन्नग, नाग साथ ही।
बिदार के वक्ष पतंग-पुत्रि का।
प्रमत्त से थे कढ़ते शनैः शनैः ॥३८॥

फणीश-शीशोपरि राजती रही।
सु-मूर्ति शोभामयि श्री-मुकुन्द की।
बिकीर्णकारी कल ज्योति चक्षु थे।
अतीव-उत्फुल्ल मुखारबिन्द था ॥३९॥

विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा।
कसी हुई थी कटि में सुकाञ्चनी।
दुकूल से शोभित कान्त कन्ध था।
बिलम्बिता थी वन-माल ग्रीव में ॥४०॥

अहीश को नाथ बिचित्र-रीति से।
स्व-हस्त में थे बर डोर को लिये
बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुहुः।
प्रबोधिनी-मुग्धकरी-बिमोहिनी ॥४१॥

समस्त-प्यारा पट सिक्त था हुआ ।
न भींगने से बनमाल थी बची ।
गिरा रही थीं अलकें नितान्त ही ।
अनूपता से बर-बूंद-बारी की ।।४२।।

समस्त सर्पों सँग श्याम ज्यों कढ़े ।
कलिन्द को नन्दिनि के सुअंक से ।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे ।
सभी महा शंकित-भीत हो उठे ।।४३।।

हुए कई मूर्छित घोर-त्रास से ।
कई भगे मेदिनि में गिरे कई ।
हुईं यशोदा अतिही-प्रकम्पिता ।
ब्रजेश भी व्यस्त-समस्त हो गये ।।४४।।

बिलोक होती जनता भयातुरा ।
मुकुन्द ने एक बिभिन्न-मार्ग से ।
चढ़ा किनारे पर सर्प-यूथ को ।
उन्हें बढ़ाया बन ओर-बेग से ।।४५।।

ब्रजेन्दु के अद्भुत-बेणु-नाद से ।
सतर्क-संचालन से सु-युक्ति से ।
हुए वशी-भूत समस्त सर्प थे ।
न अल्प होते प्रतिकूल थे कभी ।।४६।।

अगम्य अत्यन्त समीप-शैल के ।
जहाँ हुआ कानन था ब्रजेन्द्र ने ।
कुटुम्ब के साथ वहीं अहीश को ।
सदर्प दे के बहु-यातना तजा ।।४७।।

न नाग काली तब से दिखा पड़ा ।
हुई तभी से यमुनाति-निर्मला ।
समोद लौटे सब लोग सद्म को ।
प्रमोद सारे-बृजबीच छा गया ॥४८॥

अनेक यों हैं कहते फणीश को ।
सवंश मारा बन में मुकुन्द ने ।
कई मनीषी यह हैं विचारते ।
छिपा पड़ा है वह गर्त्त में किसी ॥४९

सुना गया है यह भी अनेक से ।
पवित्र भूता-बृज-भूमि त्याग के ।
चला गया है वह और ही कहीं ।
जनोघघाती विष-दन्त-हीन हो ॥५०॥

प्रवाद जो हो यह किन्तु सत्य है ।
स-गर्व मैं हूं कहता प्रफुल्ल हो ।
बृजेन्दु ने ही बृज-व्याधि है हरी ।
बना फणी-हीन पतंग-पुत्रि को ॥५१॥

वही महा-धीर असीम-साहसी ।
सु-कौशली मानव-रत्न दिव्य-धी ।
अभाग्य से है बृज से जुदा हुआ ।
सदैव होगी न व्यथा अतीव क्यों ॥५२॥

मुकुन्द का है हित चित्त में भरा ।
पगा हुआ है प्रति-रोम प्रेम में ।
भलाइयाँ हैं उनकी बड़ी बड़ी ।
भला उन्हें क्यों बृज भूल जायगा ॥५३॥

जहाँ रहें श्याम सदा सुखी रहें।
न भूल जावें प्रिय तात मात को।
कभी कभी आ मुख मंजु को दिखा।
रहें जिलाते ब्रज-प्राणि-पुंज को ॥५४॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

निज मनोहर भाषण वृद्ध ने।
जब समाप्त किया बहु-मुग्ध हो।
अपर एक प्रतिष्ठित-गोप यों।
तब लगा कहने सु-गुणावली ॥५५॥

वंशस्थ छन्द।

निदाघ का काल महा तुरन्त था।
भयावनी थी रवि-रश्मि हो गयी।
तवा समा थी तपती बसुंधरा।
स्फुलिंग बर्षारत तप्त व्योम था ॥५६॥

प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में।
ज्वलन्त था आतप ज्वाल-मालसा।
पतंग की देख महा-प्रचण्डता।
प्रकम्पिता पादप-पुंज-पंक्ति थी ॥५७॥

रजाक्त आकाश दिगन्त को बना।
बिमर्दती बन्य असंख्य वृक्ष को।
मुहुर्मुहुः उद्धत हो निनादती।
प्रवाहिता थी पवनाति भीषणा ॥५८॥

बिदग्ध हो के कण धूलि राशि का।
हुआ तपे लौह कणों समान था।

तप्त-बालू-इव दग्ध-भाड़ की।
भयंकरी थी महिरेणु हो गई ॥५९॥

असह्य उत्ताप अतीव था हुआ।
महा समुद्विग्न मनुष्य मात्र था।
शरीरियों की प्रिय-शान्ति-नाशिनी।
निदाघ की थी अति-उग्र-ऊष्मता ॥६०॥

किसी घने-पल्लव-वान-पेड़ की।
प्रगाढ़-छाया अथवा सुकुंज में।
अनेक प्राणी करते व्यतीत थे।
स-व्यग्रता स्वीय दुरन्त-काल को ॥६१॥

अचेत सा निद्रित हो स्व-गेह में।
पड़ा हुआ मानव का समूह था।
न जा रहा था जन एक भी कहीं।
अपार निस्तब्ध समस्त ग्राम था ॥६२॥

स्व-शावकों साथ स्वकीय-नीड़ में।
अबोल हो के खग-वृन्द था पड़ा।
स-भीत हो दाघ-निदाघ से मनों।
नहीं गिरा भी तजती स्व-सद्म थी ॥६३॥

सु-कुंज में या बर-वृक्ष के तले।
अशक्त हो थे पशु पंगु से पड़े।
प्रतप्त-भू में गमनाभिशंकया।
मनों पगों को गति त्याग के भगी ॥६४॥

प्रचंडलू थी अति-तीव्र घाम था।
मुहुर्मुहुः गर्जन था समीर का।

विलुप्त हो सर्व-प्रभाव-अन्य का।
निदाघ का भूमि अखंड राज्य था ॥६५॥

समेत गो-पालक वत्स धेनु के।
बिता रहे थे दिवसेक शान्ति से।
मुकुन्द ऐसे अ-मनोज्ञ-काल को।
बनस्थिला-एक-निकुंज-मंजु में ॥६६॥

परन्तु प्यारी यह शान्ति श्याम की।
बिनष्ट औ भंग हुई तुरन्त ही।
कठोर-दूरागत-भूरि-शब्द से।
अजस्र जो था अति घोर हो रहा ॥६७॥

पुनः पुनः कान लगा लगा सुना।
ब्रजेन्द्र ने उत्थित-शब्द घोर को।
अतः उन्हें ज्ञात तुरन्त हो गया।
प्रचंड-दावा वन-मध्य है लगी ॥६८॥

गये उसी ओर अनेक-गोप थे।
स-धेनुओं के कुछ-काल-पूर्व ही।
हुई इसी से निज बंधु-बर्ग की।
अपार चिन्ता ब्रज-व्योम-चन्द्र को ॥६९॥

अतः बिना ध्यान किये प्रचंडता।
निदाघ की पूषण की समीर की।
ब्रजेन्द्र दौड़े तज शान्ति-कुंज को।
सु-साहसी गोप-समूह संग ले ॥७०॥

निकुंज से बाहर श्याम ज्यों कढ़े।
उन्हें महा पर्वत धूमपुंज का।

दिखा पड़ा दक्षिण ओर सामने।
मलीन जो था करता दिगन्त को ॥७१॥

अभी गये वे नहिं अर्ध कोस थे।
लगीं दिखाने लपटें भयावनी।
बनस्थली बीच प्रदीप्त वह्नि की।
मुहुर्मुहुः व्योम-अखंड व्यापिनी ॥७२॥

प्रवाहिता उद्धत तीव्र वायु से।
विधूनिता हो लपटें समुत्थिता।
नितान्त ही थीं बनती भयंकरी।
प्रचंड-दावा प्रलयंकरी-समा ॥७३॥

अनन्त थे पादप दग्ध हो रहे।
असंख्य गाँठें फटती स-शब्द थीं।
विशेषतः वंश-अपार-वृक्ष की।
बना महा-शब्द-मयी बनस्थली ॥७४॥

अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा।
स-व्यग्रता थे सब ओर भागते।
नितान्त हो भीत सरीसृपादि भी।
बने महा व्याकुल थे पला रहे ॥७५॥

समीप जा के बलभद्र-बंधु ने।
वहाँ महा-भीषण-काण्ड जो लखा।
प्रवीर है कौन त्रि-लोक-बीच जो।
स्व-नेत्र से देख उसे न काँपता ॥७६॥

प्रचंडता में रवि की दवाग्नि की।
दुरन्तता थी अति ही-विवर्द्धिता।

प्रतीति होती उसको बिलोक के।
बिदग्ध होगी सिगरी-बसुंधरा ॥७७॥

पहाड़ से पादप तूल पुंज लौं।
स मूल होते पल मध्य भस्म थे।
बड़े-बड़े प्रस्तर खंड वह्नि से।
तुरन्त होते तृण-तुल्य दग्ध थे ॥७८॥

अनेक पत्ती उड़ ब्योम मध्य भी।
न त्राण थे पा सकते शिखाग्नि से।
सहस्रशः थे पशु प्राण त्यागते।
पलायनाकांक्षित हो पतंग लौं ॥७९॥

जला किसी का पग पूँछ आदि था।
पड़ा किसी का जलता शरीर था।
जले अनेकों जलते असंख्य थे।
दिगन्त था आर्त्त-निनाद से भरा ॥८०॥

भयंकरी-प्रज्वलिताग्नि की शिखा।
दिवांधता-कारिणी राशि धूम की।
बनस्थली में बहु-दूर-ब्याप्त थी।
नितान्तघोरा ध्वनि त्रास-वर्द्धिनी ॥८१॥

यहीं बिलोका करुणा-निकेत ने।
स्व-बंधुओं को सँग धेनु-वत्स के।
शिखाग्नि द्वारा जिनकी शनैः शनैः।
बिनष्ट संज्ञा अधिकांश थी हुई ॥८२॥

निरर्थ चेष्टा करते बिलोक के।
उन्हें स्व-रक्षाहित अग्नि-गर्भ से।

दया बड़ी ही ब्रज-देव की हुई।
विशेषतः देख उन्हें अशक्त-सा ॥८३॥

अतः सबों से यह श्याम ने कहा!
स्व-जाति-उद्धार महान-धर्म्म है।
चलो करें पावक में प्रवेश औ।
स-धेनु लेवें निज-जाति को बचा ॥८४॥

बिपत्ति से रक्षण सर्व भूत का।
सहाय होना अ-सहाय जीव का।
उबारना संकट से स्व-जाति का।
मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है ॥८५॥

बिना न त्यागे ममता स्व-प्राण की।
बिना न जोखों ज्वलदग्नि में पड़े।
न हो सका बिश्व-महान-कार्य्य है।
न सिद्ध होता भव-जन्म हेतु है ॥८६॥

बढ़ो करो वीर स्व-जाति का भला।
अपार दोनों बिध लाभ है हमें।
किया स्व-कर्तव्य उबार जो लिया।
सु-कीर्ति पाई यदि भस्म हो गये ॥८७॥

शिखाग्नि से वे सब ओर हैं घिरे।
बचा हुआ एक दुरूह-पंथ है।
परन्तु होगी यदि स्वल्प-देर तो।
अगम्य होगा यह शेष-पंथ भी ॥८८॥

अतः न है और बिलम्ब में भला।
प्रवृत्त हो शीघ्र स्व-कार्य्य में लगो।

स-धेनु के जो न इन्हें बचा सके।
बनी रहेगी अपकीर्त्ति तो सदा ॥८९॥

ब्रजेन्दु ने यद्यपि तीव्र शब्द में।
किया समुत्तेजित सर्व-गोप को।
तथापि साथी उनके स्व-कार्य्य में।
न हो सके लग्न यथार्थ रीति से ॥९०॥

निदाघ के भीषण-उग्र ताप से।
स्व-धैर्य्य थे वे अधिकांश खो चुके।
रहे-सहे को ज्वलदग्नि दाप ने।
किया समुन्मूलन सर्व भाँति था ॥९१॥

असह्य होती उनको अतीव थी।
कराल-ज्वाला तन-दग्ध-कारिणी।
विपत्ति से संकुल उक्त-पंथ भी।
उन्हें बनाता भयभीत भूरि था ॥९२॥

अतः हुए भ्रान्त नितान्त थे सभी।
विलोप होती सुधि थी शनैः शनैः।
ब्रजांगना-वल्लभ के निदेश से।
स-चेष्ट होते भर वे क्षणेक थे ॥९३॥

स्व-साथियों की यह देख दुर्दशा।
प्रचंड-दावानल में प्रवीर लौं।
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त-वेग से।
चमत्कृता सी बन-मेदिनी बना ॥९४॥

प्रवेश के बाद स-वेग ही कढ़े।
समस्त-गोपालक-धेनु संग वे।

अलौकिक-स्फूर्त्ति दिखा त्रिलोक को।
        बसुंधरा में कल-कीर्त्ति-वेलि बो ॥९५॥

बचा सबों को बल-वीर ज्यों कढ़े।
        प्रचंड-ज्वाला-मय-पंथ यों हुआ।
बिलोकते ही यह कागड श्याम को।
        सभी लगे आदर दे सराहने ॥९६॥

अभागिनी है ब्रज की बसुंधरा।
        बड़े-अभागे हम गोप लोग हैं।
अपूर्व-छाया यदि शीश से उठी।
        ब्रजांगना-जीवन-पाद-पद्म की ॥९७॥

न वित्त होता धन रत्न डूबता।
        स-भूमि गो-वंश-असंख्य छूटता।
समस्त जाता तब भी न शोक था।
        सरोज सा आनन जो बिलोकता ॥९८॥

अतीव-उत्कण्ठित सर्व-काल हूं।
        बिलोकने को एक-बार और भी।
मनोज्ञ-वृन्दावन-व्योम अंक में।
        उगे हुए आनन कृष्णचंद्र को ॥९९॥



द्वादश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छंद।

ऊधो से यों स-दुख जब थे भाखते गोप बातें।
आभीरों का यक-दल नया वाँ उसी-काल आया।
नाना-बातें विलख उसने भी कहीं खिन्न हो हो।
पीछे प्यारा-सुयश स्वर से श्याम का यों सुनाया ॥१॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

सरस-सुन्दर-सावन-मास था।
घन-रहे नभ में घिर-घूमते।
विलसती बहुधा जिन में रही।
छविवती उड़ती-बक-मालिका ॥२॥

घहरता गिरिसानु समीप था।
बरसता छिति-छू नव वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले।
गगन में रचता बहु-चित्र था ॥३॥

नव-प्रभा परमोज्वल-लीक सी।
गति-मती कुटिला-फणिनी-समा।
दमकती दुरती घन-अंक में।
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी ॥४॥

विविध-रूप धरे नभ में कभी।
विहरता बर-बारिद-ब्यूह था।
बरसता बहु-पावन-बारि था।
वह कभी सरसा करके रसा ॥५॥

सलिल-पूरित थी सरसी हुई ।
उमड़ते पड़ते सर-वृन्द थे ।
कर-सुप्लावित कूल समस्त को ।
सरित थी स-प्रमोद प्रवाहिता ॥६॥

वसुमती पर थी अति-शोभिता ।
नवल कोमल-श्याम-तृणावली ।
नयन-रंजन थी करती महा ।
अनुपमा-तरु-राजि-हरीतिमा ॥७॥

हिल, लगे मृदु-मन्द-समीर के ।
सलिल-बिन्दु गिरा सुठि अंक से ।
मन रहे किसका न विमोहते ।
जल-धुले दल-पादप पुंज के ॥८॥

विपुल मोर लिये बहु मोरिनी ।
विहरते सुख से स-विनोद थे ।
जटित-नीलम पुच्छ-प्रभाव से ।
मणिमयी करके बन-मेदिनी ॥९॥

बन प्रमत्त-समान पपीहरा ।
पुलक के उठता कह पी कहाँ ।
लख वसंत-विमोहिनि-मंजुता ।
उमग कूक रहा पिक-पुंज था ॥१०॥

स-रव पावस-भूप-प्रताप जो ।
सलिल में कहते बहु भेक थे ।
विपुल-झींगुर तो थल में उसे ।
धुन-लगा करते नित गान थे ॥११॥

सुखद-पावस के प्रति सर्व की।
प्रगट सी करती अति प्रीति थीं।
बसुमती-अनुराग-स्वरूपिणी।
बिलसती-बहु-बीर-बहूटियाँ ॥१२॥

परम-म्लान हुई बहु-बेलि को।
निरख के फलिता अति-पुष्पिता।
सकल के उर में रम सी गई।
सुखद-शासन की उपकारिता ॥१३॥

बिविध-आकृति औ फल फूल की।
उपजती अवलोक सु-बूटियाँ।
प्रगट थी महि-मण्डल में हुई।
प्रियकरी-प्रतिपत्ति-पयोद की ॥१४॥

रस-मयी लख बस्तु-असंख्य को।
सरसता लख भूतल-व्यापिनी।
समझ है पड़ता बरसात में।
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥१५॥

मृतक-प्राय हुई तृण-राजि भी।
सलिल से फिर जीवित हो गई।
फिर सु-जीवन जीवन को मिला।
बुध न जीवन क्यों उसको कहें ॥१६॥

ब्रज-धरा एक बार इन्हीं दिनों।
पतित थी दुख-बारिधि में हुई।
पर उसे अवलम्बन था मिला।
ब्रज-बिभूषण के भुज-पोत का ॥१७॥

दिवस एक प्रभंजन का हुआ।
अति-प्रकोप, घटा नभ में घिरी।
बहु-भयावह-गाढ़ मसी-समा।
सकल-लोक प्रकंपित-कारिणी ॥१८॥

अशनि-पात-समान दिगन्त में।
रव बिभीषण हो उठने लगा।
कर बिदारण वायु पुनः पुनः।
दमकती नभ में जब दामिनी ॥१९॥

मथित चालित ताड़ित हो महा।
अति-प्रचंड-प्रभंजन-पुंज से।
जलद थे दल के दल आ रहे।
घुमड़ते घिरते ब्रज-घेरते ॥२०॥

तरल-तोयधि-तुंग-तरंग लौं।
निबिड़-नीरद थे घिर घूमते।
प्रबल हो जिन की बढ़ती रही।
असितता घनता रवकारिता ॥२१॥

उपजती उस काल प्रतीति थी।
प्रलय के घन आ ब्रज में घिरे।
गगन मण्डल में अथवा जमे।
जलभरे-गिरि-कज्जल कोटिशः ॥२२॥

पतित थी ब्रज-भूपर हो रही।
प्रतिघटी उर-दारिणि-दामिनी।
असह थी इतनी गुरु गर्जना।
सह न था सकता पवि कर्ण भी ॥२३॥

तिमिर की वह थी प्रभुता बढ़ी।
सब तमो-मय था दृग देखता।
चमकता बर-बासर था बना।
असितता-खनि-भद्र-कुहू निशा ॥२४॥

प्रथम बूँद पड़ी ध्वनि-बाँध के।
फिर लगा पड़ने जल बेग से।
प्रलय कालिक-सर्व-समाँ दिखा।
बरसता जल-मूसल-धार था ॥२५॥

जलद-नाद प्रभंजन-गर्जना।
रव-महा जल-पात अजस्र का।
कर प्रकम्पित पीवर प्राण को।
भर गया ब्रज-भूतल मध्य था ॥२६॥

स-बल भग्न-हुई गुरु-डालियाँ।
पतित हो करती बहु-शब्द थीं।
पतन हो कर पादप-पुंज को।
क्षण-प्रभा करती शत-खंड थीं ॥२७॥

सदन थे सब खंडित हो रहे।
परम-संकट में जन-प्राण था।
स-बल बिज्जु प्रकोप-प्रमाद से।
बहु-बिचूर्णित पर्वत-शृंग थे ॥२८॥

दिन समस्त गया रजनी हुई।
फिर हुआ दिन किन्तु न अल्प भी।
कम हुई तम-तोम-प्रगाढ़ता।
न जलपात रुका न हवा थमी ॥२९॥

सब-जलाशय थे जल से भरे।
इस लिये निशि बासर-मध्य ही।
जल-मयी ब्रज-मेदिनि हो गई।
सपुर-ग्राम लगे बहु डूबने ॥३०॥

सर-समग्र हुए सम-ताल के।
बन गया सर था लघु-गर्त्त भी।
बहु तरंग-मयी गुरु-नादिनी।
जलधि तुल्य रही रविजा बनी ॥३१॥

तदपि था पड़ता~ जल पूर्व लौं।
इस लिये अति-व्याकुलता बढ़ी।
बिपुल-लोक गये ब्रज-भूप के।
निकट व्यस्त-समस्त अधीर हो ॥३२॥

प्रकृति को कुपिता अवलोक के।
प्रथम से ब्रज-भूपति व्यग्र थे।
बिपुल-लोक समागत देख के।
बढ़ गई उनकी वह व्यग्रता ॥३३॥

पर न सोच सके वह एक भी।
उचित यत्न बिपत्ति-बिनाश का।
अपर जो उस ठौर बहुज्ञ थे।
नहिं सु-सम्मति दे वह भी सके ॥३४॥

तड़ित सी कछनी कमनीय से।
कटि कसे, नव नीरद-कान्ति का।
नवल बालक एक इसी घड़ी।
जन समागम-मध्य दिखा पड़ा ॥३५॥

ब्रज-बिभूषण को अवलोक के।
जन-समूह प्रफुल्लित हो उठा।
परम-उत्सुकता सँग प्यार से।
फिर लगा बदनांबुज देखने ॥३६॥

सब उपस्थित-प्राणि-समूह को।
निरख के निज-आनन देखता।
परम-कोमलता सँग श्याम ने।
यह कहा ब्रज-भूतल-भूप से ॥३७॥

जिस प्रकार घिरे घन व्योम में।
प्रकृति है जितनी कुपिता हुई।
प्रगट है उस से यह हो रहा।
बिपद का टलना बहु-दूर है ॥३८॥

इस लिये तज के गिरि-कन्दरा।
अपर यत्न न है अब त्राण का।
उचित है इस काल सयत्न हो।
शरण में चलना गिरि-राज की ॥३९॥

बहु-दरी उस में अति-दिव्य हैं।
अमित हैं उस में बर-कन्दरा।
निकट भी वह है सब-ग्राम के।
गमन शीघ्र वहीं अब श्रेय है ॥४०॥

सुन गिरा यह बारिद-गात की।
प्रथम तर्क-बितर्क-महा हुआ।
फिर यही अवधारित हो गया।
गिरि बिना अवलम्ब, न अन्य है ॥४१॥

पर बिलोक तमिस्र प्रगाढ़ता।
तड़ित-पात प्रभंजन-भीमता।
सलिल-प्लावन बर्षण-बारि का।
बिफल थी बनती सब-मंत्रणा ॥४२॥

इसलिये फिर पंकज-नेत्र ने।
यह स-ओज कहा सब गोप से।
बिन सचेष्ट हुए तन त्याग से।
मरण है अति-चारु सचेष्ट हो ॥४३॥

बिपत-संकुल विश्व-प्रपंच है।
बहु-छिपा भवितव्य रहस्य है।
प्रति घटी पल संशय प्राण है।
शिथिलता इस हेतु अश्रेय है ॥४४॥

विपत से वर-बीर-समान जो।
समर के हित उद्यत हो सका।
बिजय-श्री उस को बहु-काल ही।
बरण है करती सु-प्रसन्न हो ॥४५॥

पर विपत्ति बिलोक स-शंक हो।
शिथिल जो करता पग-हस्त है।
अवनि हो अवमानित, शीघ्र ही।
कवल है बनता वह काल का ॥४६॥

यह धरा, थल है प्रतिद्वंदिता।
जब उपस्थित संकट काल हो।
उचित-यत्न स-धैर्य बिधेय है।
उस घड़ी सब-मानव मात्र को ॥४७॥

सु-फल जो मिलता इस काल है।
समझना न उसे लघु चाहिये।
बहुत हैं, पड़ संकट-स्रोत में।
सहस में जन जो शत भी बचें ॥४८॥

इस लिये तज निंद्य-विमूढ़ता।
उठ पड़ो सब लोग स-यत्न हो।
इस महा-भय-संकुल काल में।
बहु सहायक जान प्रजेश को ॥४९॥

इस स-ओज सु-भाषण श्याम से।
बहु प्रबोधित हो जन-मण्डली।
गृह गई पढ़ मंत्र-सयत्नता।
लग गई गिरि ओर प्रयाण में ॥५०॥

बहु-चुने-दृढ़ बीर सु-साहसी।
सबल-गोप लिये बल-बीर भी।
समुचित स्थल में करने लगे।
सकल की उपयुक्त सहायता ॥५१॥

सलिल प्लावन से अब लौं बचे।
लघु-बड़े थल-उच्च-अनेक थे।
सब इन्हीं पर हो स-सतर्कता।
गमन थे करते गिरि-अंक में ॥५२॥

यदि व्रजाधिप के प्रिय-लाड़िले।
पतित का कर थे गहते कहीं।
उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल-बाहर मग्न को ॥५३॥

पहुँचते वह थे उन गेह में ।
जन-अकिंचन थे रहते जहां ।
कर सभी सुविधा बहु-भांति की ।
वह उन्हें रखते गिरि-अंक में ॥५४॥

परम वृद्ध असम्बल लोक को ।
दुख-मयी-विधवा रुज-ग्रस्त को ।
बन सहायक थे पहुंचा रहे ।
गिरि सु-गह्वर में बहु यत्न से ॥५५॥

यदि दिखा पड़ती जनता कहीं ।
कु-पथ में पड़ के दुख भोगती ।
पथ-प्रदर्शन थे करते उसे ।
तुरत तो उस ठौर ब्रजेन्द्र जा ॥५६॥

जटिलता-पथ की तम गाढ़ता ।
उदक-पात प्रभंजन भीमता ।
मिलित थीं सब साथ, अतः घटी ।
दुख-मयी-घटना बहु पंथ में ॥५७॥

पर सु-साहस से सु-प्रबन्ध से ।
ब्रज-विभूषण के जन-एक भी ।
तन न त्याग सका जल-मग्न हो ।
मर सका गिर के न गिरीन्द्र से ॥५८॥

फलद-सम्बल लोचन के लिये ।
यदपि बिज्जु-व्यतीत न और था ।
तदपि साधन में सब-कार्य्य के ।
सफलता सँग-श्याम सदा रही ॥५६॥

परम-सिक्त हुआ वपु-वस्त्र था।
गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र-समीर था।
पर विराम न था ब्रज-बन्धु को ॥६०॥

पहुंचते वह थे शर-वेग से।
विपत-संकुल ठौर-समस्त में।
तुरत थे करते वह नाश भी।
विपद-प्रस्तुत को वर-बीर लौं ॥६१॥

लख अलौकिक-स्फूर्त्ति-सु-दक्षता।
चकित-स्तंभित लोक समस्त थे।
अधिकतः बँधता यह ध्यान था।
ब्रज-विभूषण हैं शतशः बने ॥६२॥

स-धन गोधन ग्राम-समग्र को।
जलज-लोचन ने दिन-एक में।
कुशल से गिरि-मध्य बसा दिया।
लघु बना पवनादि-प्रमाद को ॥६३॥

प्रकृति-क्रुद्ध रही दिन सात लौं।
कुछ प्रभेद हुआ न प्रकोप में।
पर स-यत्न रहे वह पूर्व लौं।
तनिक-क्लान्ति हुई न ब्रजेन्द्र को ॥६४॥

सब-दरी सिगरी गिरि-कन्दरा।
निबसते जिन में ब्रजलोग थे।
बहु-सु-रक्षित थी ब्रज-देव के।
परम-यत्न सु-चारु-प्रबन्ध से ॥६५॥

भ्रमण ही करते सब ने उन्हें।
सकल काल लखा स-प्रसन्नता।
रजनि भी उनकी कटती रही।
स-बिधि-रक्षण में ब्रज-लोक के ॥६६॥

लख अपार-प्रसार-गिरीन्द्र में।
ब्रज-धराधिप के प्रिय-पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥६७॥

जब व्यतीत हुआ दिन सात औ।
मिट गया पवनादि प्रकोप भी।
तब बसा फिर से ब्रज प्रान्त, औ।
परम-कीर्ति हुई बल-बीर की ॥६८॥

अहह ऊधव सो ब्रज भूमि का।
परम-प्राण-स्वरूप सु साहसी।
अब हुआ दृग से बहु-दूर है।
फिर कहो बिलपे ब्रज क्यों नहीं ॥६९॥

कथन में अब शक्ति न शेष है।
बिनय हूं करता यह दीन लौं।
ब्रज-बिभूषण आ निज-नेत्र से।
दुखदशा निरखें ब्रज भूमि की ॥७०॥

सलिल-प्लावन से जिस-भूमि को।
सदय होकर रक्षण था किया।
अहह आज वही ब्रज की धरा।
नयन नीर प्रवाह निमग्न है ॥७१॥

वंशस्थ छन्द ।

समाप्त ज्यों ही इस यूथ ने किया ।
अतीव प्यारे अपने प्रसंग को ।
लगा सुनाने उस काल ही उन्हें ।
स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यों ॥७२॥

बसन्ततिलका छन्द ।

बातें बड़ी-मधुर औ अति ही-मनोज्ञा ।
नानां मनोरम रहस्य-मयी अनूठी ।
जो हैं प्रसूत भवदीय मुखाब्ज-द्वारा ।
हैं वांछनीय वह, सर्व-सुखेच्छुकों की ॥७३॥

सौभाग्य है परमगोकुल के जनों का ।
जो पाद-पंकज यहाँ भवदीय आया ।
है भाग्य की कुटिलता बचनोपयोगी ।
होता यथोचित नहीं यदि कार्य्यकारी ॥७४॥

प्रायः विचार उठता उर-मध्य होगा
ए क्यों न बात सुनते हित-कारिणी हैं ।
है मुख्य-हेतु इसका नहिं अन्य कोई ।
लौ एक श्याम-घन की ब्रज को लगी है॥७५॥

न्यारी-छटा निरखना दृग चाहते हैं ।
है कान को सु-यश भी प्रिय श्याम ही का ।
गा के सदा-सु-गुण है रसना अघाती ।
सर्वत्र रोम-तक में हरि ही रमा है ॥७६॥

जो हैं प्रवंचित कभी दृग-कर्ण होते।
तो गान है सु-गुण को करती रसज्ञा।
हो हो प्रमत्त ब्रज-लोग इसी लिये ही।
गा श्याम का सुगुण बासर हैं बिताते ॥७७॥

संसार में सकल-काल नृ-रत्न ऐसे।
हैं हो गये अवनि है जिन की कृतज्ञा।
सारे अपूर्व-गुण हैं हरि के बताते।
सच्चे-नृरत्न वह भी इस काल के हैं ॥७८॥

जो कार्य्य श्याम-घन ने अब लौं किये हैं।
कोई उन्हें न सकता कर था कभी भी।
वे कार्य्य औ वरस-द्वादश की अवस्था।
ऊधो न क्यों फिर नृ-रत्न मुकुन्द होगा ॥७९॥

बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी।
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार सँग थे मिलते सबों से।
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों में ॥८०॥

हो के बिनम्र मिलते वह थे बड़ों से।
थे बात-चीत करते बहु शिष्टता से।
बातें बिरोध-कर-थीं उन को न प्यारी।
वे थे न भूल कर भी अप्रसन्न होते ॥८१॥

थे प्रीति-साथ मिलते सब बालकों से।
थे खेलते सकल-खेल बिनोद-कारी।
नाना अपूर्व-फलफूल सदा खिला के।
वे थे बिनोदित-महा उनको बनाते ॥८२॥

जो देखते कलह शुष्क-विवाद होता।
तो शान्त श्याम उसको करते सदा थे।
कोई बली निबल को यदि था सताता।
तो वे तिरस्कृत-महा करते उसे थे ॥८३॥

होते प्रसन्न-अति थे यदि देखते थे।
कोई स्व-कृत्य करता अति प्रीति से है।
यों ही विशिष्ट-पद-गौरव की उपेक्षा।
देती नितान्त उन के चित को व्यथा थी ॥८४॥

माता पिता गुरुजनों बय में बड़ों को।
होते निरादृत कहीं यदि देखते थे।
तो खिन्न हो दुखित हो लघु को सुतों को।
शिक्षा समेत वह थे बहु-शास्ति देते ॥८५॥

थे राज पुत्र उन में मद था न तो भी।
वे दीन के सदन थे अधिकांश जाते।
बातें-मनोरम सुना दुख जानते थे।
औ थे बिमोचन उसे करते कृपा से ॥८६॥

रोगी दुखी विपत-आपत में पड़े की।
सेवा अनेक करते निज-हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ॥८७॥

संतान-हीन-जन तो ब्रजबंधु को पा।
संतान-वान निज को कहते रहे ही।
संतान-वान-जन भी ब्रज रत्न ही का।
संतान से अधिक थे रखते भरोसा ॥८८॥

जो थे किसी सदन में बल-बीर जाते ।
तो मान वे अधिक थे लहते सुतों से ।
थे राज-पुत्र इस हेतु नहीं, सदा वे ।
होते सुपूजित रहे शुभ-कर्म्म द्वारा ॥८९॥

भू में सदा यदपि है जन मान पाता ।
राज्याधिकार अथवा धन-द्रव्यद्वारा ।
होता परन्तु वह पूजित विश्व में है
निस्स्वार्थ भूत-हित औ कर लोक-सेवा ॥९०॥

थोड़ी अभी यदपि है उन की अवस्था ।
तो भी नितान्त-रत वे इस कर्म्म में हैं ।
ऐसा बिलोक बर-बोध स्वभाव से ही ।
होता सु-सिद्ध यह है वह हैं महात्मा ॥९१॥

बिद्या सु-संगति समस्त-सु-नीति-शिक्षा ।
ये तो बिकास भर की अधिकारिणी हैं ।
अच्छा-बुरा मलिन-दिव्य स्वभाव भू में ।
पाता *निसर्ग कर से नर सर्वदा है ॥९२॥

ऐसे सु-बोध मतिमान कृपालु ज्ञानी ।
जो आज लौं न मथुरा तज सद्म आये ।
तो वे न भूल ब्रज के जन को गये हैं ।
हैं अन्य-हेतु इसका अति-गूढ़ कोई ॥९३॥

पूरी नहीं कर सके उचिताभिलाषा ।
नाना-महान जन भी इस मेदिनी
हो के निरस्त बहुधा नृप-नीतियों से ।
लोकोपकार-ब्रत में अवलोक बाधा ॥९४॥

बातें यही समझ बूझ विमूढ़-सा हो।
मैं क्या कहूँ न यह है मुझ को जनाता।
हाँ एक ही विनय हूँ करता स आशा।
कोई सुयुक्ति ब्रज के हित की करें वे ॥९५॥

है रोम-रोम कहता घनश्याम आवें।
आके मनोहर-प्रभा मुख की दिखावें।
डालें प्रकाश उर को तम को नसावें।
खोते स्व-ज्योति दृग की दुति को बढ़ावें ॥९६॥

तो भी सदैव चित्त से यह चाहता हूँ।
है रोम-कूप-तक से यह नाद होता।
संभावना यदि किसी कु-प्रपंच की हो।
तो श्याम-मूर्ति ब्रज में न कदापि आवें ॥९७॥

कैसे भला स्व-हित की कर चिन्तनायें।
कोई मुकुन्द हित-ओर न दृष्टि देगा।
कैसे अश्रेय उसका प्रिय हो सकेगा।
जो प्राण से अधिक है ब्रज प्राणियों का ॥९८॥

सर्व बात कहके बहु-उन्मना हो।
आभीर ने बदन ऊधव का बिलोका।
उद्विग्नता सु-दृढ़ता अ-विमुक्त-वांछा।
होती प्रसूत उस की खर-दृष्टि से थी ॥९९॥

ऊधो बिलोक कर के उसकी अवस्था।
औ देख गोपगण को बहु खिन्न होता।
बोले गिरा मधुर शान्ति-करी बिचारी।
होवे प्रबोध जिससे दुख-दग्धितों का ॥१००॥

त्रयोदश सर्ग

वंशस्थ छन्द

विशाल-बृन्दावन भव्य-अंक में ।
रही धरा एक अतीव उर्वरा ।
नितान्त-रम्या तृण-राजि-संकुला ।
प्रसादिनी प्राणि-समूह दृष्टि की ॥१।

कहीं कहीं थे बिकसे प्रसून भी ।
उसे बनाते रमणीय जो रहे ।
हरीतिमा में तृणराजि-मंजु की ।
बड़ी छटा थी सित-रक्त-पुष्प की ॥२॥

बिलोक शोभा उस की समुत्तमा ।
समोद होती यह थी सु-कल्पना ।
सजा बिछौना हरिताभ है बिछा ।
बनस्थली बीच विचित्र बस्त्र का ॥३॥

स-चारुता हो कर के सु-रंजिता ।
सु-सेतता रक्तिमता-अनूप से ।
बिराजती है अथवा हरीतिमा ।
स्वकीय-सन्मूर्त्ति विकाश के लिये ॥४॥

बिलोकनीया इसमंजु भूमि में ।
जहाँ तहाँ पादप थे हरे भरे ।
अपूर्व-छाया जिन के सु-पत्र की ।
हरीतिमा को करती प्रगाढ़ थी ॥५॥

कहीं कहीं था बिमलाम्बु भी भरा ।
महज्जनों के उर सा पियुष-सा ।
विचित्र-क्रीड़ा जिसके सु-अंक में ।
अनेक पक्षी करते स-मत्स्य थे ॥६॥

इसी धरा में बहु-वत्स को लिये ।
अनेक-गायें चरती समोद थीं ।
अनेक बैठी बर-बृक्ष के तले ।
शनैः शनैः थीं करती जुगालियाँ ॥७॥

निनाद-गंभीर कभी कभी सुना ।
इतस्ततः थे बृष मत्त घूमते ।
बिमोहिता धेनु-प्रभूत को बना ।
स्व-गात की पीवरता अपूर्व से ॥८॥

बड़े-सधे-गोप-कुमार सैकड़ों ।
गवादि के रक्षण में प्रवृत्त थे ।
बजा रहे थे कितने विषाण को ।
अनेक गाते गुण थे मुकुन्द का ॥९॥

कई अनूठे-फल तोड़ तोड़ खा ।
विनोदिता थे रसना बना रहे ।
कई किसी सुन्दर-बृक्ष के तले ।
स-बन्धु बैठे करते प्रमोद थे ॥१०॥

इसी घड़ी कानन कुंज देखते ।
वहाँ पधारे बलबीर-बन्धु भी ।
बिलोक आता उन को प्रफुल्लिता ।
महा हुई, गोपकुमार-मण्डली ॥११॥

बिठा बड़े-आदर-भाव से उन्हें ।
लगे सभी माधव-वृत्त पूछने ।
बड़े-सुधी ऊधव भी प्रसन्न हो ।
लगे समाचार समस्त भाखने ॥१२॥

अतीवउत्कण्ठित-तन्मनस्क हो ।
समस्त ने वृत्त मुकुन्द का सुना ।
अनन्तरोद्विग्न मलीन खिन्न हो ।
जनैक ने यों हरि-बंधु से कहा ॥१३॥

मुकुन्द चाहे वसुदेव-पुत्र हों ।
कुमार होवें अथवा ब्रजेश के ।
बिके उन्हीं के कर सर्व-गोप हैं ।
बसे हुए हैं मन-नेत्र में वही ॥१४॥

अहो यही है ब्रज-भूमि जानती ।
ब्रजेन्दु को है ब्रज-देवि ने जना ।
परन्तु तो भी ब्रज-प्राण हैं वही ।
यथार्थ मा है यदि देवकांगजा ॥१५॥

मुकुन्द चाहे यदु-वंश के बनें ।
सदा रहें या वह गोप-वंश के ।
न तो सकेंगे ब्रज-भूमि भूल वे ।
न भूलदेगी ब्रजमेदिनी उन्हें ॥१६॥

बरंच न्यारी उन की गुणावली ।
बता रही है यह, पंचभूत लों ।
न एक का किन्तु मनुष्य-मात्र का ।
समान है स्वत्व मुकुन्द-देव में ॥१७॥

बिना विलोके मुख-चन्द श्याम का ।
अवश्य है भू ब्रज की बिषादिता ।
परन्तु सो है अधिकांश-पीड़िता ।
न लौटने से बलदेव-बंधु के ॥१८॥

दयालुता-सज्जनता-सुशीलता ।
बढ़ी हुई है घनश्याम-मूर्ति की ।
द्वि-दंड भी वे मथुरा न बैठते ।
न व्यर्थ जो जाल प्रपंच-फैलता ॥१६॥

सदा बुरा हो उस कूट-नीति का ।
जले महापावक में प्रपंच सो ।
मनुष्य लोकोत्तर-श्याम सा जिसे ।
न आज लौं कौशल से नसा सका ॥२०॥

बिडम्बना है बिधि की बलीयसी ।
अखण्डनीया-लिपि है ललाट की ।
भला नहीं तो तुहिनाभिभूत हो ।
विनष्ट होता रबि-बंधु कंज क्यों ॥२१॥

बसुंधरा में ब्रज की मुकुन्द का ।
निवास जो द्वादश-वर्ष लौं रहा ।
बड़ी-प्रतिष्ठा इस से उसे मिली ।
हुआ महा-गौरव गोप-वंश का ॥२२॥

चरित्र ऐसा उनका विचित्र है ।
प्रविष्ट होती जिस में न बुद्धि है ।
सदा बनाती मन को बिमुग्ध है ।
अलौकिकालोक-मयी गुणावली ॥२३॥

अपूर्व-आदर्श दिखा नरत्त्व का।
प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित की समुच्चता।
बना दिया सभ्य समग्र-गोप को ॥२४॥

मुकुन्द थे पुत्र ब्रजेश-नन्द के।
गऊ चराना उन का न कार्य था।
रहे जहाँ सेवक सैकड़ों वहाँ।
उन्हें भला कानन कौन भेजता ॥२५॥

परन्तु आते बन में स-मोद वे।
अनन्त-ज्ञानार्जन के लिये स्वयं।
तथा उन्हें वांछित थी नितान्त ही।
बनान्त में हिंस्रक-जन्तु-हीनता ॥२६॥

मुकुन्द आते जब थे अरण्य में।
प्रफुल्ल हो तो करते विहार थे।
बिलोकते थे सु-बिलास बारि का।
कलिन्दजा के कल कूल पै खड़े ॥२७॥

स-मोद बैठे गिरि-सानु पै कभी।
अनेक थे सुन्दर-दृश्य देखते।
बने महा-उत्सुक वे कभी छटा।
बिलोकते निर्झर-नीर की रहे ॥२८॥

सु बीथिका में कल कुंज-पुंज में।
शनैः शनैः थे स-बिनोद घूमते।
बिमुग्ध हो हो वह थे बिलोकते।
लता सपुष्पा मृदु-मन्द-दूलिता ॥२९॥

पतंग-जा-सुन्दर स्वच्छ बारि में।
स-बन्धुओं के वह तैरते कभी।
कदम्ब-शाखा पर बैठ मत्त हो।
कभी बजाते निज-मंजु-बेणु थे ॥३०॥

बनस्थली उर्वर-अंक उद्भवा।
अनेक बूटी उपयोगिनी-जड़ी।
हुई परिज्ञात रही मुकुन्द को।
स्वकीय-सन्धान-करी सु-बुद्धि से ॥३१॥

बनस्थली में यदि थे बिलोकते।
किसी परीक्षा-रत-धीर-व्यक्ति को।
सुबूटियों का उस से मुकुन्द तो।
स-मर्म थे सर्व-रहस्य जानते ॥३२॥

नवीन-दूर्वा फल-फूल-मूल क्या।
वरंच वे वस्तु-अतीव-तुच्छ को।
बिलोकते थे खर दृष्टि से सदा।
स्व-ज्ञान-मात्रा-अभिवृद्धि के लिये ॥३३॥

तृणातिसाधारण को उन्हें कभी।
बिलोकते देख निविष्ट चित्त से।
विरक्त होते यदि ग्वाल बाल थे।
उन्हें बताते यह तो मुकुन्द थे ॥३४॥

रहस्य से शून्य न एक-पत्र है।
न विश्व में व्यर्थ बना तृणेक।
करो न संकीर्ण बिचार-दृष्टि को।
न धूलि की भी कणिका निरर्थ है ॥३५॥

बनस्थली में यदि थे बिलोकते।
कहीं किसी भीषण-दुष्ट-जन्तु को।
मुकुन्द थे तो उसको निपातते।
स्व-वीर्य से साहस से सु-युक्ति से ॥३६॥

यहीं बड़ा-भीषण एक ब्याल था।
स्वरूप प्रत्यक्ष-प्रकोप काल का।
विशाल-काले उसके शरीर की।
करालता थी मति-लोप-कारिणी ॥३७॥

कभी फणी जो पथ-मध्य बक्र हो।
कँपा स्व-काया चलता स-बेग तो।
बनस्थली में उस-काल त्रास का।
प्रकाश पाता अति-उग्र रूप था ॥३८॥

समेट के स्वीय शरीर सर्ब को।
फणा उठा, था जब ब्याल बैठता।
बिलोचनों को उस काल दूर से।
प्रतीत होता वह स्तूप-तुल्य था ॥३९॥

बिलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहुः।
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो।
निपात होता तब भूतमाण था।
बिभीषिका-गर्त्त नितान्त गूढ़ में ॥४०॥

प्रलम्ब आतंक-प्रसू, उपद्रवी।
अतीव मोटा यम-दीर्घ-दण्ड सा।
कराल-आरक्तिम-नेत्रवान औ।
विषाक्त-फुत्कार-निकेत सर्प था ॥४१॥

विलोकते ही उसको बराह की ।
विलोप होती बर बीरता रही ।
अधीर होके बनता अ-शक्त था ।
बड़ा-बली बज्र शरीर केशरी ॥४२॥

असह्य होती तरुबृन्द को रहीं ।
बिषाक्त-साँसें दल दग्ध-कारिणी ।
बिचूर्ण होती बहुशः शिला रही ।
कठोर-उद्वन्धन-सर्प-गात्र से ॥४३॥

अनेक कीड़े पशु पक्षि भी कई ।
बिदग्ध होते नित थे पतंग लों ।
भयंकरी प्राणिसमूह-ध्वंसिनी[1] ।
महादुरात्मा अहि-कोपबह्नि में ॥४४॥

अगम्य कान्तार गिरीन्द्र खोह में ।
निवास प्रायः करता भुजंग था ।
परन्तु आता वह था कभी कभी ।
यहाँ बुभुक्षावश उग्र बेग से ॥४५॥

बिराजता सन्मुख जो सु-बृक्ष है ।
बड़े-अनूठे जिसके प्रसून हैं ।
प्रफुल्ल बैठे दिवसेक श्याम थे ।
तले इसी पादप के समण्डली ॥४६॥

दिनेश ऊँचा बर ब्योम मध्य हो ।
बनस्थली को करता प्रदीप्त था ।
इतस्ततः थे बहुगोप घूमते ।
असंख्य-गायें चरती समोद थीं ॥४७॥

इसी अनूठे-अनुकूल-काल में।
अपार-कोलाहल आर्त्त-नाद से।
मुकुन्द की शान्ति हुई विदूरिता।
स-मण्डली वे शश-व्यस्त हो गये ॥४८॥

बिशाल जो है बटबृक्ष सामने।
स्वयं उसी की गिरि-शृंग-स्पर्द्धिनी।
समुच्च शाखा-पर श्याम जा चढ़े।
तुरन्त ही साथ बड़ी सतर्कता ॥४९॥

उन्हें वहीं से दिखला पड़ा वही।
भयावना-सर्प दुरन्त-काल सा।
बड़ी-बुरी निष्ठुरता-समेत जो।
बिनाशता बन्य-प्रभूत-जन्तु था ॥५०॥

पला रहे थे उसको बिलोक के।
असंख्य प्राणी बन में इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो।
समीप के गोप स-धेनु-मण्डली ॥५१॥

स्व-लोचनों से इस क्रूर-काण्ड को।
बिलोक उत्तेजित श्याम हो गये।
तुरन्त आ, पादप-निम्न, दर्प से।
स-बेग दौड़े खल सर्प ओर वे ॥५२॥

समीप जा स्वीय अपूर्व-बेणु को।
बजा उठे वे इस दिव्य-रीति से।
विमुग्ध होने जिससे लगा फणी।
अचेत-आभीर सचेत हो उठे ॥५३॥

मुहुर्मुहुः अद्भुत-बेणु-नाद से।
बना बशी-भूत बिमूढ़-सर्प को।
सु-कौशलों से बर-अस्त्र-शस्त्र से।
उसे निपाता ब्रज-भूमि-रत्न ने ॥५४॥

बिचित्र है शक्ति मुकुन्द-देव में।
प्रभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
स-जीव होता जिससे सदैव है।
नितान्त-निर्जीव बना मनुष्य भी ॥५५॥

अचेत हो भू पर जो गिरे रहे।
उन्हीं सबों ने बिबिधा-सहायता।
अशंक की थीं बलभद्र-बंधु की।
बिनाशने में बिकराल ब्याल के ॥५६॥

कई महीने तक थो पड़ी रही।
बिशाल-काया उस की बनान्त में।
विलोप पीछे यह चिह्न भी हुआ।
अघोपनामी उस क्रूर-सर्प का ॥५७॥

बड़ा-बली एक विशाल-अश्व भी।
बनस्थली में बिकराल-मूर्त्ति था।
दुरन्तता से जिसकी निपीड़िता।
नितान्त होती पशु-मण्डली रही ॥५८॥

प्रमत्त हो, था जब अश्व दौड़ता।
प्रचंडता-साथ प्रभूत-वेग से।
अरण्य-भू थी तब भूरि-काँपती।
अतीव होती ध्वनिता दिशा रही ॥५९॥

शृशादि होते शतशः बिनष्ट थे।
खुर-पुष्ट मोटे सुम के प्रहार से।
कड़े-पदाघात बलिष्ठ-बाजि से।
बिदीर्ण होता बपु बारणादि का ॥६०॥

बड़ा-बली उन्नत-काय-बैल भी।
बिलोक होता उस को विपन्न था।
नितान्त-उत्पीड़न-दंशनादि से।
न त्राण-पाता सुरभी-समूह था ॥६१॥

पराक्रमी-बीर बलिष्ठ-गोप भी।
न सामना थे करते तुरंग का।
बरंच वे थे बनते बिमूढ़ से।
उसे कहीं देख भयाभिभूत हो ॥६२॥

समुच्च-शाखा पर बृक्ष की किसी।
तुरन्त जाते चढ़ थे स-व्यग्रता।
सुने कठोरा ध्वनि अश्व-टाप की।
समस्त-आभीर अतीव-भीत हो ॥६३॥

मनुष्य आ सम्मुख स्वीय-प्राण को।
बचा नहीं था सकता प्रयत्न से।
दुरन्तता थी उस की भयावनी।
बिमूढ़कारी रब था तुरंग का ॥६४॥

मुकुन्द ने एक विशाल-दण्ड ले।
दिनेक घेरा इस बन्य-बाजि को।
अनन्तराघात-अजस्र से उसे।
निपात के मेदिनि में गिरा दिया ॥६५॥

बिलोक ऐसी बलवीर बीरता।
अशंकता-साहस-कार्य्य-दक्षता।
समग्र आभीर बिमुग्ध हो गये।
चमत्कृता हो जनमण्डली उठी ॥६६॥

बनस्थली कण्टक रूप अन्य भी।
कई बड़े-क्रूर बलिष्ठ-जन्तु थे।
नसा उन्हें भी निज कौशलादि से।
किया उन्होंने इस को अकण्टका ॥६७॥

बड़ा-बली-बालिश ब्योम नाम का।
बनस्थली में पशु-पाल एक था।
अपार होता उस को बिनोद था।
सदैव उत्पीड़न प्राणि पुंज से ॥६८॥

प्रबंचना से उस की प्रबंचिता।
अतीव होती ब्रज-गोप-जाति थी।
अनेक-उत्पात बनान्त-भूमि में।
सदा मचाता यह दुष्ट ब्यक्ति था ॥६९॥

कभी चुराता बृष-वत्स धेनु था।
कभी उन्हें था जल बीच बोरता।
प्रहार द्वारा गुरु-यष्टि के कभी।
उन्हें बनाता वह अंग-हीन था ॥७०॥

दुरात्मता थी उस की भयंकरी।
न खेद होता उस को कदापि था।
निरीह गो-बत्स समूह को नसा।
बृथा लगा पावक कुंज-पुंज में ॥७१॥

अबोध-सीधे बहु-गोप-बाल को।
अनेक देता बन-मध्य कष्ट था।
कभी कभी था वह डालता उन्हें।
डरावनी मेरु-गुहा निगूढ़ में ॥७२॥

विदार देता शिर था प्रहार से।
निकाल लेता रसना स-नेत्र था।
कभी बड़ी-निर्दयता समेत सो।
बिनास देता बहु-मूल्य-प्राण था ॥७३॥

प्रयत्न-नाना • ब्रज-देव ने किया।
सुधारने के हित क्रूर-व्योम के।
परन्तु छूटी उस की न दुष्टता।
न दूर कोई कु-प्रवृति हो सकी ॥७४॥

न शुद्ध होती सु-प्रयत्न साथ है।
न ज्ञान-शिक्षा उपदेश आदि से।
प्रभाव-द्वारा बहु-पूर्व पाप के।
मनुष्य-आत्मा स-विशेष दूषिता ॥७५॥

निपीड़िता भू-व्रज को बिलोक के।
अतीव उत्पीड़न से खलेन्द्र के।
दिनेक आता लख सामने उसे।
स-क्रोध बोले बलभद्र-बंधु यों ॥७६॥

सुधार-चेष्टा सब व्यर्थ हो गई।
न त्याग तू ने कु-प्रवृति को किया।
अतः यही है अब युक्ति उत्तमा।
तुझे निपातूं भव-श्रेय-हेतु मैं ॥७७॥

अवश्य हिंसा अति-निंद्य-कर्म है।
तथापि कर्त्तव्य-प्रधान है यही।
न सद्म हो पूरित-सर्प आदि से।
वसुंधरा में पनपें न पातकी ॥७८॥

मनुष्य क्या एक पिपीलिका कभी।
न बध्य है जो न अश्रेय हेतु हो।
न पाप है किंच अपार पुण्य है।
पिशाचकर्म्मी-नर का निपातना ॥७९॥

समाज उत्पीड़क धर्म्म-विप्लवी।
स्व-जाति का शत्रु दुरन्त-पातकी।
मनुष्य द्रोही भव-प्राणि-पुंज का।
न है क्षमा-योग्य बरंच बध्य है ॥८०॥

क्षमा नहीं है खल साथ श्रेयसी।
समाज-उत्सादक दण्ड योग्य हैं।
कु-कर्म-कारी नर का उबारना।
सु-कर्म्मियों को करता बिपन्न है ॥८१॥

अतः अरे पामर सावधान हो।
समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू।
सम्हाल मैं हूं तुझको निपातता ॥८२॥

स-दर्प बातें सुन श्याम-मूर्त्ति की।
हुआ महा-क्रोधित व्योम-बिक्रमी।
उठा स्वकीया-गुरु-दीर्घ यष्टि को।
तुरन्त मारा उसने बूजेन्द्र को ॥८३॥

अपूर्व-आस्फालन साथ श्याम ने ।
अतीव लंबी वह यष्टि छीन ली ।
पुनः उसी यष्टि-प्रहार से किया ।
निपात उत्पात-निकेत व्योम का ॥८४॥

गुणावली है गुरुगौरवों भरी ।
गरीयसी-भूरि मुकुन्द-कीर्त्ति है !
उसे सदा संयत-भावसाथ गा ।
अतीव होती चित बीच शान्ति है ॥८५॥

बनस्थली में पुरबीच ग्राम में ।
अनेक ऐसे थल हैं सुहावने ।
अपूर्व-लीला बृजदेव ने जहाँ ।
स-मोद की है मन मुग्धकारिणी ॥८६॥

उन्हीं थलों को जनता शनैः शनैः ।
बना रही है बृज-सिद्ध पीठ सा ।
उन्हीं थलों की रज श्याम-मूर्त्ति के ।
बियोग में है बहु-बोध दायिनी ॥८७॥

अपार होगा उपकार लाड़िले ।
निकेत आवें यक बार और जो ।
प्रफुल्ल होगी बृज-गोप-मण्डली ।
बिलोक आँखों बदनारबिन्द को ॥८८॥

मंदाक्रान्ता छंद ।

श्रीदामा जो अति-प्रियसखा श्यामली मूर्त्ति का था ।
मेधावी जो सकल-बृज के बालकों में बड़ा था ।
पूरा ज्यों ही कथन उस का हो गया मुग्ध सा ही ।
बोला वोंही मधुर-स्वर से दूसरा एक ग्वाला ॥८९॥

मालिनी छंद

बिपुल-ललित लीला-धाम आमोद-प्याले ।
सकल-कलित-क्रीड़ा औ कला में निराले ।
अनुपम-बनमाला को गले बीच डाले ।
कब उमग मिलेंगे लोक लावण्य-वाले ॥६०॥

कब कुसुमित कुंजों में बजेगी बता दो ।
वह मधु-मय-प्यारी-बाँसुरी लाड़िले की ।
कब कल-यमुना के कूल बृन्दाटवी में ।
चित-पुलकितकारी चारु आलाप होगा ॥६१॥

कब प्रिय बिहरेंगे आ पुनः काननों में ।
कब वह फिर खेलेंगे चुने-खेल-नाना ।
बिबिध-रस निमग्ना भाव सौंदर्य्य-डूबी ।
कब वर मुख-मुद्रा लोचनों में लसेगी ॥६२॥

यदि बृज-धन छोटा खेल भी खेलते थे ।
तनिक नहि गँवाते चित्त-एकाग्रता थे ।
बहु-चकित सदा थीं बालकों को बनाती ।
अनुपम-मृदुता में क्षिप्रता की कलायें ॥६३॥

चकितकर अनूठी-शक्तियाँ श्याम में हैं ।
वर-सब-विषयों में जो उन्हें हैं बनाती ।
बहु कठिन कला में केलि-क्रीड़ादि में भी ।
वह मुकुट सबों के थे मनोनीत होते ॥६४॥

सबल-कुशल-क्रीड़ावान भी लाड़िले को ।
निज छल बल-द्वारा था नहीं जीत पाता ।
बहु अवसर ऐसे आँख से हैं बिलोके ।
जब कुंवर अकेले जीतते थे शर्तों को ॥६५॥

तदपि चित बना है श्याम का चारु ऐसा।
वह निज-सुहृदों से थे स्वयं हार खाते।
वह कतिपय-जीते-खेल को थे जिताते।
सफलित करने को बालकों की उमंगें ॥९६॥

वह अतिशय-भूखा देख के बालकों को।
तरु पर चढ़ जाते थे बड़ी शीघ्रता से।
निज-कमल-करों से तोड़ मीठे-फलों को।
वह स-मुद खिलाते थे उन्हें यत्न द्वारा ॥९७॥

सरस फल अनूठे-व्यंजनों को यशोदा।
प्रति-दिन बन में थीं भेजती सेवकों से।
कह कह मृदु बातें प्यार से पास बैठे।
ब्रज रमण खिलाते थे उन्हें गोपजों को ॥९८॥

नव किशलय किम्बा पीन-प्यारे दलों से।
वह ललित खिलौने थे अनेकों बनाते।
वितरण कर पीछे भूरि सम्मान द्वारा।
वह मुदित बनाते ग्वाल की मंडली को ॥९९॥

अभिनव-कलिका से पुष्प से पंकजों से।
रच अनुपम-माला भव्य-आभूषणों को।
वह निज-कर से थे बालकों को पिन्हाते।
बहु-सुखित बनाते यों सखा-बृन्द को थे ॥१००॥

वह बिबिध-कथायें देवता दानवों की।
अनु-दिन कहते थे मिष्टता मंजुता से।
वह हँस हँस बातें थे अनूठी सुनाते।
सुखकर-तरु-छाया में समासीन हो के ॥१०१॥

ब्रज-धन जब क्रीड़ा-काल थे मत्त होते।
तब अभिमुख होती मूर्त्ति तल्लीनता थी।
बहु थल लगती थीं बोलने कोकिलायें।
यदि वह पिक का सा कुंज में कूकते थे ॥१०२॥

यदि वह पपिहा की शारिका या शुकी की।
श्रुति-सुखकर-बोली प्यार से बोलते थे।
कल-रव करते तो भूरि-जातीय-पक्षी।
ढिग-तरु पर आ के मत्त हो बैठते थे ॥१०३॥

यदि वह चलते थे हंस की चाल प्यारी।
लख अनुपमता तो चित्त था मुग्ध होता।
यदि कलित कलापी तुल्य वे नाचते थे।
निरुपम पटुता तो मोहती थी मनों को ॥१०४॥

यदि वह भरते थे चौकड़ी एण कीसी।
मृग-गण समता की तो न थे ताब लाते।
यदि वह बन में थे गर्जते केशरी सा।
थर थर-कँपता तो मत्त-मातङ्ग भी था ॥१०५॥

नवल-फल-दलों औ पुष्प संभार द्वारा।
बिरचित कर के वे राजसी-वस्तु नाना।
यदि बन कर राजा बैठ जाते कहीं थे।
वह छवि बन आती थी बिलोके दृगों से ॥१०६॥

यह अवगत होता है वहाँ बंधु मेरे।
कल कनक बनाये दिव्य आभूषणों को।
स-मुकुट मन-हारी सर्वदा पेन्हते हैं।
सु-जटित जिनमें हैं रत्न-आलोकशाली ॥१०७॥

शिर पर उनके है राजता छत्र न्यारा ।
सु-चमर ढुलते हैं, पाट हैं रत्न शोभी।
परिकर-शतशः हैं बस्त्र औ बेशवाले ।
बिरचित नभचुम्बी सद्म हैं स्वर्ण द्वारा ॥१०८॥

इन सब बिभवों की न्यूनता थी न यां भी।
पर वह अनुरागी पुष्प हो के बड़े थे।
यह हरित-तृणों से-शोभिता भूमि रम्या ।
प्रिय-तर उनको थी स्वर्ण-पर्यंक से भी ॥१०९॥

यह अनुपम नीला-व्योम प्यारा उन्हें था ।
अतुलित छविवाले चारु-चन्द्रातपों से ।
यह कलित निकुंजें थीं उन्हें भूरि-प्यारी ।
मम हृदय-बिमोही-दिव्य-प्रासाद से भरी ॥११०॥

समधिक मणि-मोती आदि से चाहते थे।
बिकसित-कुसुमों को मोहिनी मूर्त्ति मेरे।
सुखकर गिनते थे स्वर्ण आभूषणों से।
वह सुललित पुष्पों के अलंकार ही को ॥१११॥

अब हृदय हुआ है और मेरे सखा का।
अहह वह नहीं तो क्यों सभी भूल जाते।
यह नित नव कुंजें भूमि-शोभा-निधाना।
प्रति दिवस नहीं तो क्यों नहीं याद आतीं ॥११२॥

सुन कर वह प्रायः गोप के बालकों से।
दुखमय कितने ही गेह की कष्ट-गाथा।
बन तज उन गेहों मध्य थे बेग जाते।
नियमन हित सारी-सर्ग-संभूत बाधा ॥११३॥

यदि अनशन होता अ औ द्रव्य देते।
रुज ग्रसित दिखाता औषधी तो पिलाते।
यदि कलह वितण्डा-वाद की बृद्धि होती।
वह मृदु बचनों से तो उसे भी नसाते ॥११४॥

बहु नयन दुखी हो वारिधारा बहा के।
पथ-प्रियवर का ही आज भी देखते हैं।
पर सुधि उनकी भी हा ? उन्होंने नहीं ली।
वह प्रथित दया का धाम भूला उन्हें क्यों ॥११५॥

पद-रज ब्रज भू है चाहती उत्सुका हो।
कर परम प्रलोभी बृन्द है पादपों का।
बढ़ अमित गई है लोक के लोचनों की।
सरसिज-मुख-शोभा देखने की पिपासा ॥११६॥

प्रतपित रवि तीखी-रश्मियों से शिखी हो।
प्रतिपल चित से ज्यों मेघ को चाहता है।
ब्रज-जन बहु तापों साथ संतप्त होके।
घन तन हित वोंही हैं समुत्कण्ठ होते ॥११७॥

नव-जलधर-धारा ज्यों समुत्पन्न होते।
कतिपय तरु का है जीवनाधार होती।
हितकर दुख दग्धों का उसी भाँति होगा।
नव जलद शरीरी श्याम का सद्म आना ॥११८॥

द्रुतविलंबित छंद।

कथन यों करते ब्रज की व्यथा।
गगन-मण्डल लोहित हो गया।
इस लिये बुध ऊधव को लिये।
सकल-गोप गये निज-गेह को ॥११९॥

——::❀::——

चतुर्दश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द।

कालिन्दी के पुलिन पर था एक-कुंजातिरम्या।
छोटेछोटे सु-द्रुम उस के मुग्ध-कारी बड़े थे।
अंकों में थीं लिपट लसती उक्त-प्यारे द्रुमों को।
शोभावाली-विपुल-लतिका पुष्पभारावनम्रा ॥ १ ॥

बैठे ऊधो मुदित-चित से एकदा थे इसीमें।
लीलाकारी सलिल सरि का सामने सोहता था।
धीरे धीरे तपन-किरणें फैलती थीं दिशा में।
नाना-क्रीड़ा उमग-करती वायु थी पल्लवों से ॥ २ ॥

आई बामा-कतिपय इसी-काल कुंजा के।
आशाओं को ध्वनित कर के पांव के नूपुरों से।
देखी जाती इन छविवती-कामिनी संग में थी।
भोली-भाली-सुवदनि कई सुन्दरी-बालिकायें ॥ ३ ॥

नीला-प्यारा-उदक सरि का देख के एक श्यामा।
बोली खिन्ना विपुल ब्रज के-अन्य-गोपांगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
प्यारी डूबी जलद-तन की मूर्त्ति है याद आती ॥ ४ ॥

श्यामा बातें श्रवण कर के बालिका-एक रोई।
रोते रोते अरुण उस के हो गये नेत्र-दोनों।
ज्यों ज्यों लज्जा-विवश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यों त्यों आँसू-अधिक-तर थे लोचनों मध्य आते ॥ ५ ॥

ऐसा रोते निरख उस को एक-मर्म्मज्ञ बोली।
यों रोवेगी भगिनि यदि तू बात कैसे बनेगी।
कैसे तेरे युगल-दृग ए ज्योति-शाली रहेंगे।
तू देखेगी वह छवि-मयी-श्यामली-मूर्त्ति कैसे ॥ ६ ॥

जो यों ही तू बहु व्यथित हो दग्ध होती रहेगी।
तेरे सूखे-कृशित-तन में प्राण कैसे रहेंगे।
प्यारा-प्यारा-मुदित-मुखड़ा जो न तू देख लेगी।
तो वे होंगे सुखित न कभी स्वर्ग में भी सिधा के॥ ७॥
मर्म्मज्ञा का कथन सुन के कामिनी एक बोली।
तू रोने दे अयि-मम-सखी खेदिता-बालिका को।
जो बालायें बिरह-दव में दग्धिता हो रही हैं।
आँखों का ही उदक उनकी शान्ति की ओषधी है॥ ८॥
वाष्पों-द्वारा बहु-बिध-दुखों बर्द्धिता-बेदना के।
बालाओं का हृदय-नभ जो है समाच्छन्न होता।
तो निर्द्धिता तनिक उस की म्लानता है न होती।
पर्य्यन्यों लौं न यदि बरसें वारि हों, वे दृगों से॥ ९॥
प्यारी-बातें श्रवण जिस ने की किसी-काल में थी।
न्यारा-प्यारा-बदन जिसने था कभी देख पाया।
वे होती हैं बहु व्यथित जो श्याम हैं याद आते।
क्यों रोवेगी न वह जिसके जीवनाधार वे हैं॥ १०॥
प्यारे-भ्राता-सुत स्वजन सा श्याम को चाहती हैं।
जो बालायें व्यथित वह भी आज हैं उन्मना हो।
प्यारा-न्यारा-निज हृदय जो श्याम को दे चुकी हैं।
हा! क्यों बाला न वह दुख से दग्ध हो रो मरेगी॥ ११॥
ज्यों ए-बातें व्यथित चित से गोपिका ने सुनाईं।
सारी-बाला करुण-स्वर से रो-उठीं कम्पिता हो।
ऐसा न्यारा-बिरह उनका देख उन्माद-कारी।
धीरे ऊधो निकट-उनके कुंज को त्याग आये॥ १२॥
ज्यों पाते ही सम-तल-धरा बारि-उन्मुक्त-धारा।
पा जाती है प्रमित-थिरता त्याग तेजस्विता को।
यों ही होता प्रबल दुख का बेग-बिभ्रान्तकारी।
पा ऊधो को प्रशमित हुआ सर्व-गोपी-जनों का॥ १३॥

बातें-प्यारी बिबिध कह के मान-सम्मान डूबी।
ऊधो जी को सुमुखि सब ने नम्रता से बिठाया।
पूछा मेरे कुंवर अबलौं क्यों नहीं सद्म आये।
क्या वे भूले कमल-पग की प्रेमिका गोपियों को ॥१४॥

बोले ऊधो समय-गति है गूढ़-अज्ञात बेड़ी।
क्या होवेगा कब यह नहीं जीव है जान पाता।
आवेंगे या न अब ब्रज में आ सकेंगे बिहारी।
हा! मीमांसा इस दुख-पगे प्रश्न की क्यों करूं मैं ॥१५॥

प्यारा बृन्दा-बिपिन उन को आज भी पूर्व लौं है।
वे भूले हैं न प्रिय-जननी औ न प्यारे-पिता को।
वैसे ही हैं सुरति करते श्याम गोपांगना की।
वैसे ही हैं प्रणय-प्रतिमा-बालिका याद आती ॥१६॥

प्यारी-बातें कथन कर के बालिका-बालकों की।
माता की औ प्रिय-जनक को गोप गोपांगना की।
मैंने देखा अधिकतर है श्याम को मुग्ध होते।
उच्छ्वासों से व्यथित-उर के नेत्र में बारि लाते ॥१७॥

सायं-प्रातः प्रति पल-घटी हैं उन्हें-याद आतीं।
सोते में भी ब्रज-अवनि का स्वप्न वे देखते हैं।
कुंजों-पुंजों मन मधुप लौं सर्वदा घूमता है।
देखा जाता तन भर वहां मोहिनी-मूर्त्ति का है ॥१८॥

होके भी वे ब्रज-अवनि के चित्त से यों सनेही।
क्यों आते हैं न प्रति-जन का प्रश्न होता यही है।
कोई यों है कथन करता तीन ही कोस आना।
क्यों है मेरे-कुंवर-वर को कोटिशः कोस होता ॥१९॥

दोनों-आँखें सतत जिन की दर्शनोत्कण्ठता हों।
जो बारों को कुंवर-पथ को देखते हैं बिताते।
वे हो हो के बिकल यदि हैं भाखते बात ऐसी।
तो कोई है न अतिशयता औ न आश्चर्य्य ही है ॥२०॥

ऐ संतप्ता-बिरह-बिधुरा गोपियो किन्तु कोई।
थोड़ा सा भी मुरलि-धर के मर्म को है न पाता।
वे जी से हैं अवनिजन के सर्वथा श्रेय-चाही।
प्राणों से हैं अधिक उन को विश्व का प्रेम प्यारा ॥२१॥
स्वार्थों को औ बिपुल-सुख को तुच्छ देते बना हैं।
जो आजाता जगत हित है सामने लोचनों के।
हैं योगी लौं दमन करते लोक-सेवा लिये वे।
प्यारी प्यारी हृदय-तल की सैकड़ों-लालसायें ॥२२॥
ऐसे ऐसे जगत-हित के कार्य्य हैं चक्षु आगे।
हैं सारेही-विषय जिन के सामने श्याम भूले।
सच्चे जी से परम-व्रत के वे व्रती हो चुके हैं।
निष्कामी लौं अपर-कृत के कूल-वर्ती अतः हैं ॥२३॥
मीमांसायें प्रथम करते स्वीय कर्त्तव्य की हैं।
पीछे वे हैं निरत उस में धीरता साथ होते।
होके बांछा-विबश अथवा लिप्त हो वासना में।
प्यारे होते न च्युत अपने मुख्य-कर्त्तव्य से हैं ॥२४॥
घूमूँ जाके कुसुम-बन में प्यार से वायु सेऊं।
देखूँ प्यारी सुमन-लतिका चित्त यों चाहता है।
रोता कोई-व्यथित तब लौं जो कहीं दीख जावे।
तो जावेंगे न उपबन में शान्ति देंगे उसी को ॥२५॥
जो सेवा हो कुंवर करते स्वीय-माता-पिता की
या वे होवें सर्व-गुरुजन को बैठ सम्मान देते।
ऐसी बेला यदि सुन पड़े आर्त बाणी उन्हें तो।
वे देवेंगे शरण उसको त्याग सेवा-बड़ों की ॥२६॥
जो वे बैठे सदन करते कार्य्य होवें अनेकों।
औ कोई आ कथन उन से यों करे व्यग्र-होके।
गेहों को है दहन करती बर्धिता ज्वालमाला।
तो दौड़ेंगे तुरत तज वे कार्य्य प्यारे-सहस्रों ॥२७॥

कोई प्यारा-परम उन का था स्वजातीय-प्राणी।
दुष्टात्मा ही मनुज-कुल का शत्रु हो पातकी हो।
तो वे सारी हृदय-तल की भूल के वेदनायें।
न्यायात्मा लौं उचित उस को दण्ड औ शास्ति देंगे ॥२८॥
हाथों में जो मुरलि-धर के न्यस्त हो कार्य्य कोई।
पीड़ाकारी-परम कुल का जाति का बांधवों का।
तो हो के भी दुखित उस को वे सुखी लौं करेंगे।
जो देखेंगे निहित उस में लोक का लाभ कोई ॥२९॥
अच्छे अच्छे बहु-फल-प्रसू और लोकोपकारी।
कार्य्यों की है अवलि अधुना सामने-लोचनों के।
पूरे-पूरे निरत उन में सर्वदा हैं बिहारी।
प्यारों-वाली ब्रजअवनि में हैं इसी से न आते ॥३०॥
हो जावेंगी बहु दुखद जो स्वल्प शैथिल्य द्वारा।
जो देवेंगी सु-फल मति के साथ सम्पन्न हो के।
ऐसी नाना परम-जटिला राज की नीतियाँ भी।
बाधाकारी कुंवर-चित को वृत्ति में हो रही हैं ॥३१॥
तो भी मैं हूं न यह कहता नन्द के नेत्र-तारे।
आवेंगे ही न अब ब्रज में औ उसे भूल देंगे।
जो प्यारा है परम उन का चाहते वे जिसे हैं।
निर्मोही हो अहह उस को श्याम कैसे तजेंगे ॥३२॥
हां, भावी है परम-प्रबला दैव-इच्छा-बली है।
होते होते जगत कितनी बात ही है न होती।
जो ऐसा ही कु-दिन ब्रज का मेदिनी-मध्य आवे।
तो थोड़ा भी हृदय-बल को गोपियो ! खो न देना ॥३३॥
जो संतप्ता-सलिल-नयना-बालिकायें कई हैं।
ऐ प्राचीना-तरल-हृदया-गोपियो स्नेह-द्वारा।
शिक्षा देना समुचित इन्हें कार्य्य होगा तुमारा।
होने पावें न वह जिस से मोह-माया-निमग्ना ॥३४॥

जो बूझेगा न ब्रज कहते लोक-सेवा किसे हैं।
जो जानेगा न वह, भव के श्रेय का मर्म क्या है।
जो सोचेगा न गुरु-गरिमा लोक के प्रेमियों की।
कर्त्तव्यों में कुंवर-बर को तो बड़ा-क्लेश होगा ॥३५॥

प्रायः होता हृदय-तल है एकही मानवों का।
जो पाता है न सुख यक तो अन्य भी है न पाता।
जो पीड़ायें-प्रबल यक के चैन को हैं नसाती।
तो होने से व्यथित बचता दूसरा भी नहीं है ॥३६॥

जो ऐसी ही रूदन करती बालिकायें रहेंगी।
पीड़ायें भी विविध उनको जो इसी भांति होंगी।
यों ही रो रो सकल ब्रज जो दग्ध होता रहेगा।
तो आवेगा ब्रज-अधिप के चित्त को चैन कैसे ॥३७॥

जो होवेगा न चित उन का शान्त-स्वच्छन्द-चारी।
तो वे कैसे जगत-हित को चारुता से करेंगे।
सत्कार्य्यों में परम-प्रिय के अल्प भी विघ्न-बाधा।
कैसे होगी उचित, चित में गोपियो, सोच देखो ॥३८॥

धीरे धीरे भ्रमित-मन को योग-द्वारा सम्हालो।
स्वार्थों को भी जगत हित के अर्थ सानन्द-त्यागो।
भूलो मोहो न तुम लख के बासना-मूर्त्तियों को।
यों होवेगा शमन-दुख औ शान्ति-न्यारी मिलेगी ॥३९॥

ऊधो बातें, हृदय-तल की बेधिनी-गूढ़-प्यारी।
खिन्ना हो हो स-विनय सुना सर्व-गोपी-जनों ने।
पीछे बोलीं अति चकित हो म्लान हो उन्मना हो।
कैसे मूर्खा-परम-हम सी आप की बात बूझें ॥४०॥

हो जाते हैं भ्रमित जिसमें भूरि-ज्ञानी-मनीषी।
कैसे होगा सुगम-पथ सो मंद-धी नारियों को।
छोटे-छोटे-सरित-सर में डूबता जो तरी है।
सो-भूव्यापी सलिल-निधि के मध्य कैसे तिरेगी ॥४१॥

वे त्यागेंगी सकल-सुख औ स्वार्थ-सारा तजेंगी।
औ रक्खेंगी निज हृदय में वासना भी न कोई।
ज्ञानी-ऊधो जतन इतनी बात ही का बतादो।
कैसे त्यागें हृदय-धन को प्रेमिका-गोपिकायें॥४२॥

भोगों को औ भुवि विभव को लोक की लालसा को।
माता-भ्राता स्वप्रिय-जन-को बन्धु को बांधवों को।
वे भूलेंगी स्व-तन-मन-को स्वर्ग की सम्पदा को।
हा! भूलेंगी जलद-तन की श्यामली-मूर्ति कैसे॥४३॥

जो प्यारा है अखिल-ब्रज के प्राणियों का बड़ा ही।
रोमों की भी अवलि जिस के रंग ही में रँगी है।
कोई देही बन अवनि में भूल कैसे उसे दे।
जो प्राणों में हृदयतल में लोचनों में रमा है॥४४॥

भूला जाता वह सजन है चित्त में जो बसा हो।
देखी जाके सुछबि जिस की लोचनों में रमी हो।
कैसे भूलें कुंवर जिस में चित्त ही जा बसा है।
प्यारी शोभा निरख जिस की आप आँखें रमी हैं॥४५॥

कोई ऊधो यदि यह कहे काढ़ दें गोपिकायें।
प्यारा न्यारा निज हृदय तो वे उसे काढ़ देंगी।
हो पावेगा न यह उन से देह में प्राण होते।
यत्नों द्वारा हृदय-तल से श्याम को काढ़ देवें॥४६॥

मीठे-मीठे बचन जिस के नित्य ही मोहते थे।
हा! कानों से श्रवण करती हूँ उसी की कहानी।
भूले से भी न छवि उस की आज हूँ देख पाती।
जो निर्मोही कुंवर बसते लोचनों में सदा थे॥४७॥

मैं रोती हूं व्यथित बन के कूटती हूं कलेजा।
या आँखों से युगल-पद की माधुरी देखती थी।
या है ऐसा कु-दिन इतना हो गया भाग्य-खोटा।
मैं प्यारे के चरण-तल की धूलि भी हूं न पाती॥४८॥

ऐसी कुंजें ब्रज-अवनि में हैं अनेकों जहां जा।
आजाती है युगलदृग के सामने मूर्त्ति-प्यारी।
नाना-लीला-ललित जसुदा-लाल ने की जहां है।
ऐसी ठौरां ललक दृग हैं आज भी लग्न होते ॥४६॥
फूली डालें सु-कुसुममयी नीप की देख आँखों।
आ जाती है मुरलिधर की मोहनी मूर्त्ति आगे।
कालिन्दी के पुलिन पर आ देख नीलाम्बु न्यारा।
हो जाती है उदय उर में माधुरी अम्बुदों सी ॥५०॥
सूखे न्यारा सलिल सरि का दग्ध हो कुंज-पुंजें।
फूटें आँखें हृदय तल भी भ्रंश हो गोपियों का।
सारा बृन्दाबिपिन उजड़े नीप निर्मूल होवे।
तो भूलेंगे प्रथित-गुण के पुण्य-पाथोधि माधो ॥५१॥
आसीना जो मलिन-बदना बालिकायें कई हैं।
ऐसी ही हैं ब्रज-अवनि में बालिकायें-अनेकों।
जी होता है व्यथित जिन का देख उद्विग्न हो हो।
रोना-धोना बिकल-बनना दग्ध-होना न सोना ॥५२॥
नाना-पूजा बिबिध-ब्रत औ सैकड़ों ही क्रियायें।
सालों की हैं परम-श्रम से भक्ति-द्वारा उन्होंने।
ब्याही जाऊँ कुँवर सँग में एक बांछा यही थी।
सो बांछा है बिफल बनता दग्ध वे क्यों न होंगी ॥५३॥
जो वे जी से कमल-दृग की प्रेमिका हो चुकी हैं।
प्यारों-वाला हृदय-तल जो श्याम को दे चुकी हैं।
जो आँखों में सुछबि निवसी मोहिनी-मूर्त्ति की है।
प्रेमोन्मत्ता न फिर वह क्यों मेदिनी-मध्य होंगी ॥५४॥
नीला प्यारा-जलद जिन के लोचनों में रमा है।
वे कैसे हो निरत सकती धूम के पुंज में हैं।
जो आसक्ता मुरलि-धर में वस्तुतः हो चुकी हैं।
वे देवेंगी हृदय-तल में अन्य को स्थान कैसे ॥५५॥

सोचो ऊधो यदि रह गई बालिका-सबे क्वांरी।
कैसी होगी ब्रज-अवनि के प्राणियों को व्यथायें।
वे होवेंगी दुखित कितनी और कैसी विपन्ना।
हो जावेंगे दिवस उन के कंटकाकीर्ण कैसे! ॥ ५६ ॥
सर्वांगों में लहर उठती यौवनाम्भोधि की है।
जो है घोरा परम-प्रबला औ महोच्छ्वासशीला।
तोड़े देती प्रबल-तरि जो ज्ञान औ बुद्धि की है।
घातों से है दलित जिस के धैर्य्य का शैल होता ॥ ५७ ॥
ऐसे ओखे-उदकनिधि में हैं पड़ी बालिकायें।
झोंके से है पवन बहती काल की वामता की।
आवर्त्तों में पतित-तरि है नौ-पती है न कोई।
हा! कैसी है बिपति कितनी-संकटापन्न वे हैं ॥ ५८ ॥
शोभा देता सतत उनकी दृष्टि के सामने था।
नाना-पुष्पों-निलय सुख का एक उद्यान फूला।
हा! सो शोभा-सदन अब है नित्य उत्सन्न होता।
प्यारे-प्यारे कुसुम-कुल भी हैं न उत्फुल्ल होते ॥ ५९ ॥
जो मर्य्यादा सुमति, कुल की लाज को है जलाती।
फूँके देती परम-तप से प्राप्त संसिद्धि को है।
ए-बालायें परम-सरला सर्वथा-अप्रगल्भा।
कैसे ऐसी मदन-दव की तीव्र-ज्वाला सहेंगी ॥ ६० ॥
चक्री होते चकित जिससे काँपते हैं पिनाकी।
जो बज्री के हृदय-तल को बिद्ध देता बना है।
जो है पूरा-व्यथित करता विश्व के देहियों को।
कैसे ऐसे बिशिख रति के कान्त से वे बचेंगी ॥ ६१ ॥
जो हो के भी परम-मृदु है बज्र का काम देता।
जो हो के भी कुसुम, करता शैल की सी क्रिया है।
जो हो के भी मधुर बनता है महा-दग्ध-कारी।
कैसे ऐसे मदन-शर से रक्षिता वे रहेंगी ॥ ६२ ॥

प्रत्यंगों में प्रचुर जिसकी व्याप जाती कला है।
जो हो जाता बिषम अति है काल-कूटादिकों सा।
मद्यों से भी अधिक जिस में शक्ति-उन्मादिनी है।
कैसे ऐसे मद-मदन से वे न उन्मत्त होंगी ॥ ६३ ॥
कैसे कोई अहह उनको देख आँखों सकेगा।
वे होवेंगी दुसह-अति औ स्वेद-रोमांच-कारी।
पीड़ायें जो मदनहिम के पात के तुल्य देगा।
स्नेहोत्फुल्ला-बिकच-बदना बालिकांभोजनी को ॥ ६४ ॥
मेरी बातें श्रवण करके आप जो पूछ बैठें।
कैसे प्यारे-कुँवर अकल व्याहते सैकड़ों को।
तो है मेरी बिनय इतनी आप सा उच्च-ज्ञानी।
क्या ज्ञाता है न बुधबादिता प्रेम की अंधता का ॥ ६५ ॥
आसक्ता हैं अमित-नलिनी एक-छाया-पती में।
प्रेमोन्मत्ता बिमल-बिधु की हैं सहस्रों-चकोरी।
जो बाला हैं बिपुल हरि में रक्त वैचित्र्य क्या है?।
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ॥ ६६ ॥
जो धाता ने अवनि-तल में रूप की सृष्टि की है।
तो क्यों ऊधो न वह नर के मोह का हेतु होगा।
माधो जैसे रुचिर जन का रूप अत्यन्त-प्यारा।
क्यों मोहेगा न बहु-सुमना-सुन्दरी-बालिका को ॥ ६७ ॥
जो मोहेंगी जतन नहिं क्यों प्राप्ति का वे करेंगी।
जो होवेंगी स-फल नहिं तो क्यों न उद्भ्रान्त होंगी।
ऊधो पूरी-जटिल इनकी हो गई है समस्या।
यों तो सारी ब्रज-अवनि ही शोक-मग्ना-महा है ॥ ६८ ॥
जो वे आते न ब्रज बरसों, टूट जाती न आशा।
चोटें खाता न उर उतना जो न यों ऊब जाता।
जो वे जा के न मधुपुर में वृष्णि-वंशी कहाते।
प्यारे बेटे न यदि बनते श्रीमती देवकी के ॥ ६९ ॥

ऊधो वे हैं परम सुकृति भाग्य वाले बड़े हैं।
ऐसा प्यारा रतन जिनको आज यों हाथ आया।
सारे प्राणी व्रज अवनि के हैं बड़े ही अभागे।
जो पाते ही न अब अपना चारु चिन्तामणी हैं ॥७०॥

भोलीभाली व्रजअवनि क्या योग की रीति जानें।
कैसे बूझे अ-बुध अबला ज्ञान विज्ञान बातें।
देते क्यों हो कथन करके बात ऐसी व्यथायें।
देखूं प्यारा बदन जिनसे यत्न ऐसे बता दो ॥७१॥

नाना क्रीड़ा व्रज अवनि में आ पुनः वे करेंगे।
आँखें होंगी सुखित फिर भी सर्वगोपांगना की।
कुंजों पुंजों ध्वनित फिर भी बांसुरी चारु होगी।
आवेंगे वे दिवस फिर भी जो अनूठे बड़े हैं ॥७२॥

श्रेयःकारी सकल बृज की है यही एक आशा।
थोड़ा किम्बा अधिक इससे शान्ति पाता सभी है।
ऊधो तोड़ो न तुम कृपया ईदृशी चारु आशा।
क्या पाओगे अवनि बृज को जो समुत्सन्न होगी ॥७ ॥

देखो सोचो दुखमय दशा श्याम माता पिता की।
प्रेमोन्मत्ता बिपुल बृज की बालिका को बिलोको।
गोपों को औ व्यथित लख के गोपियों को पसीजो।
ऊधो होती मृतक बृज की मेदिनी को जिला दो ॥७४॥

वसन्ततिलका छन्द

बोली स-शोक अपरा-यक-गोपिका यों।
ऊधो अवश्य कृपया व्रज को जिलाओ।
जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ।
लौटाल श्याम-घन को व्रज मध्य लाओ ॥७५॥

अत्यन्त-लोक-प्रिय विश्व-विमुग्ध-कारी।
जैसा तुम्हें चरित मैं अब हूं सुनाती ।

ऐसी करो ब्रज लखे फिर कृत्य वैसा ।
लावण्य-धाम फिर दिव्य-कला दिखावें ॥७६॥

भू में रमी शरद की कमनीयता थी ।
नीला अनन्त–नभ निर्मल हो गया था ।
थी छा गई ककुभ में अमिता सिताभा ।
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती ॥७७॥

होता सतोगुण प्रसार दिगन्त में है ।
है विश्व-मध्य सितता अभिवृद्धि पाती ।
सारे स-नेत्र जन को यह थे बताते ।
कान्तार-काश, बिकसे-सित पुष्प द्वारा ॥७८॥

शोभा-निकेत अति उज्ज्वल कान्ति शाली ।
था बारि-बिन्दु जिसका नव मौक्तिकों सा ।
स्वच्छोद का बिपुल-मंजुल-बीचि-शीला ।
थी मन्द मन्द बहती सरितातिभव्या ॥७९॥

उच्छ्वास था न अब सावन कूलकारी ।
था वेग भी न अति उत्कट कर्णभेदी ।
आवर्त्त जाल अब था न धरा-बिलोपी ।
धीरा, प्रशान्त, बिमलाम्बुवती, नदी थी ॥८०॥

था मेघ-शून्य नभ उज्ज्वल–कान्ति वाला ।
मालिन्य-हीन मुदिता-नव दिग्वधू थी ।
थी मेदिनी रहित-कर्दम स्वच्छ-रम्या ।
सर्वत्र धौत जल निर्मलता लसी थी ॥८१॥

कान्तार में सरिततीर सुगह्वरों में ।
सोते-अनेक बहते जल स्वच्छ के थे ।

होती अजस्र उनमें ध्वनि थी अनूठी।
वे थे मनों शरद की कल कीर्त्ति गाते ॥८२॥

नाना नवागत विहंग-बरूथ द्वारा।
वापी तड़ाग सर शोभित हो रहे थे।
फूले-सरोज-मिस हर्षित लोचनों से।
वे हो विमुग्ध जिनको अवलोकते थे ॥८३॥

नाना-सरोबर खिले नव पंकजों को।
ले अंक में विलसते मन मोहते थे।
मानों पसार अपने शतशः करों को।
वे माँगते शरद से सु-विभूतियाँ थे ॥८४॥

प्यारे सु-चित्रित सितासित-रंग-वाले।
थे दीखते चपल-खंजन प्रान्तरों में।
बैठीं मनोरम सरों पर सोहती थी।
आई स-बाम ब्रज मध्य मराल-माला ॥८५॥

प्रायः निरम्बु कर पावस-नीरदों को।
पानी सुखा प्रचुर-प्रांतर औ पथों का।
न्यारे-असीम नभ में मुदिता मही में।
व्यापी-नवोदित-अगस्त नई विभा थी ॥८६॥

था क्वार-मास निशि थी अति-रम्य-राका।
पूरी-कला-सहित शोभित चंद्रमा था।
ज्योतिर्मयी-परम सर्व-दिशा बना के।
सौंदर्य साथ लसती छिति में सिता थी ॥८७॥

शोभा-मयी शरद की ऋतु पा दिशा में।
निर्मेघ-व्योम-तल में सु-बसुंधरा में।

होती सु-संगति अतीव-मनोहरा थी।
न्यारी कला-तुहिनदीधिति स्वच्छता की ॥८८॥

प्यारी-प्रभा रजनि-रंजन पर्वतों को।
जो थी असंख्य-नव हीरक से लसाती।
तो बीचि में तपन की प्रिय-कन्यका के।
थी चूर्ण-चारुमणि-उज्ज्वल के मिलाती ॥८९॥

थे स्नात से सकल पादप चन्द्रिका से।
प्रत्येक-पल्लव प्रभामय दीखता था।
सारी-लता सकल बेलि समस्त शाखा।
डूबी विचित्र-तर-निर्मल-ज्योति में थी ॥९०॥

जो मेदिनी रजतपत्र-मयी हुई थी।
किम्वा पयोधि-पय से यदि साविता थी।
तो सर्व-पत्र पर पादप बेलियों के।
पूरी हुई प्रथित-पारद-प्रक्रिया थी ॥९१॥

था मंद-मंद हँसता विधु-व्योम शोभी।
होती प्रवाहित धरातल में सुधा थी।
जो पा प्रवेश दृग में प्रिय-अंशुद्वारा।
थी मत्त-प्राय करती मन-मानवों का ॥९२॥

अत्युज्ज्वला पहन तारक-मुक्त-माला।
दिव्यांबरा बन-अलौकिक-कौमुदी से।
भावों-भरी परम मुग्धकरी हुई थी।
राका-कला कर-मुखी रजनी-पुरन्ध्री ॥९३॥

पूरी-समुज्ज्वल हुई सित-यामिनी थी।
होता प्रतीत रवि-सा रजनी-पती थी।

पिती कभी परम मुग्ध बनी सुधा थी ।
होती कभी चकित थी चतुरा-चकोरी ॥६४॥

ले पुष्प-सौरभ तथा पय-सीकरों को ।
थी मन्द-मन्द बहती पवनातिप्यारी ।
जो थी मनोरम-अतीव-प्रफुल्ल-कारी ।
हो सिक्त सुन्दर-सुधा रजनीश द्वारा ॥६५॥

चन्द्रोज्ज्वला रजत-पत्र-वती मनोज्ञा ।
शान्ता नितान्त-सरसा सु-पियूष-सिक्ता ।
शुभ्रांगिनी सु-पवना सुजला सु-कूला ।
सत्पुष्पसौरभ-वती बन-मेदिनी थी ॥६६॥

ऐसी अलौकिक-अपूर्व-वसुंधरा में ।
ऐसे मनोरम-अलंकृत-काल को पा ।
बंसी अनाचक बजी अतिही रसीली ।
आनंद-कन्द ब्रज-गोप-गणाग्रणी की ॥६७॥

भावों-भरा मुरलिका स्वर मुग्ध-कारी ।
आदौ हुआ मरुत साथ दिगन्त-व्यापी ।
पीछे पड़ा श्रवण में बहु-भावुकों के ।
पीयूष के प्रमुदवर्द्धक-बिन्दुओं सा ॥६८॥

पूरी-बिमोहित हुईं यदि गोपिकायें ।
तो गोप-वृन्द अति-मुग्ध हुए स्वरों से ।
फैलीं बिनोद-लहरें ब्रज-मेदिनी में ।
आनंद-अंकुर उगा उर में जनों के ॥६९॥

बंशीनिनाद सुन त्याग निकेतनों को ।
दौड़े समस्त स-बिनोद उमंग-डूबे ।

गोपी-असंख्य बहु गोप अनेक-बाला ।
आईं बिहार-रुचि से बन-मेदिनी में ॥१००॥

उत्साहिता-परम मूर्त्ति-प्रफुल्लता सी ।
आई विलोक जनता-अनुराग डूबी ।
की श्याम ने रुचिर क्रीड़न की व्यवस्था ।
कान्तार में कलित-कूल-कलिन्दजा के ॥१०१॥

हो हो विभक्त दल में बहुशः सबों ने ।
प्रारंभ की विपिन में कमनीय-क्रीड़ा ।
बाजे बजा अति-मनोहर-कण्ठ से गा ।
उन्मत्त-प्राय बन चित्त-प्रमत्तता से ॥१०२॥

मंजीर नूपुर मनोहर-किंकिणी की ।
फैली मनोज्ञ ध्वनि मंजुल वाद्य की सी ।
छेड़ी गई फिर स-मोद गई बजाई ।
अत्यन्त कोमल-करों सँग चारु-वीणा ॥१०३॥

थापें मृदंग पर जो पड़ती सधी थीं ।
वे थीं स-जीव स्वर-सप्तक को बनाती ।
माधुर्य्य-भूरि बहु-कौशल से मिला के ।
थीं नाद को श्रुतिमनोहरता सिखाती ॥१०४॥

मीठे-मनोरम-स्वरों सँग वेणु नाना ।
होके निनादित विनोदित थे बनाते ।
थी सर्व में अधिक-मंजुल-मुग्धकारी ।
जादू-भरी मुरलि केशव कौशली की ॥१०५॥

हो हो सुवादित सदंगुलि श्याम-द्वारा ।
कान्तार में मुरलिका जब गूँजती थी ।

तो पत्र पत्र पर था कल नृत्य होता।
रागांगना-बिधु मुखी चपलांगिनी का ॥१०६॥

भूव्योम व्यापित कलाधर की सुधा में।
न्यारी सुधा मिलित हो मुरली-स्वरों को।
धारा अपूर्व-रस की महि में बहा के।
सर्वत्र थी अति-अलौकिकता लसाती ॥१०७॥

उत्फुल्ल थे बिटप-बृन्द विशेष होते।
माधुर्य्य था बिपुल, पुष्प-समूह पाता।
होती विकाश-मय मंजुल-वेलियाँ थीं।
लालित्य-धाम बनती उलही-लता थी ॥१०८॥

क्रीड़ा-मयी ध्वनि-मयी कल-ज्योति-वाली।
धारा असेत सरि की अति तद्गता थी।
थी नाचती उमगती थिर भूरि होती।
उल्लासिता बिहँसितातिं प्रफुल्लिता थी ॥१०९॥

पाई अपूर्व-थिरता मृदु-वायु ने थी।
मानों-अचंचल विमोहित ही बनी थी।
प्यारे-स्वरों-मुरलि संग प्रमोदिता हो।
माधुर्य्य-साथ हँसती सित-चन्द्रिका थी ॥११०॥

सत्कण्ठ साथ नर नारि-समूह गाना।
उत्कण्ठ था न किस को महि में बनाता।
तानें उमंगित-करी कल-कण्ठ जाता।
तंत्री रहीं जन-उरस्थल की बजाती ॥१११॥

ले वायु कण्ठ-स्वर, वेणु-निनाद-न्यारा।
प्यारी मृदंग-ध्वनि, मंजुल बीन मीड़ें।

आनंद-नादमय कंठसहस्र द्वारा ।
हो हो पड़ीं ध्वनित बार कई दिशाएँ ॥११८॥

माधो विलोक सब को मुद-मत्त बोले ।
देखो छटा-विपिन की कल-कौमुदी में ।
आना करो सफल कानन में गृहों से ।
शोभामयी प्रकृति की गरिमा विलोको ॥११९॥

बीसों विचित्र दल केवल नारि का था ।
योंही अनेक-दल केवल था नरों का ।
नारी-नरों-मिलित यूथ रहा सहस्रों ।
उत्कण्ठ हो सब उठा सुन श्याम बातें ॥१२०॥

सानन्द सर्व-दल कानन मध्य फैला ।
होने लगा सुखित दृश्य विलोक नाना ।
देने लगा उर कभी नवला-लता को ।
गाने लगा कलित-कीर्ति कभी कला की ॥१२१

आभा-अलौकिक दिखा निज-वल्लभा को ।
पीछे कला-कर-मुखी कहता उसे था ।
तोभी तिरस्कृत स्व-गर्वित बाम से हो ।
होता प्रफुल्ल-अति था दल-भावुकों का ॥१२२॥

जा कूल स्वच्छ-सर के नलिनी दलों में ।
आवद्ध देख नयनों अलि-दारु-वेधी ।
उत्फुल्ल हो समझता अवधारता था ।
उद्दाम-प्रेम-महिमा दल-प्रेमिकों का ॥१२३॥

विच्छिन्न हो स्व-दल सेवहुं गोप-गोपी ।
स्वच्छन्द थीं विचरती रुचिर-स्थलों में ।

या बैठ चन्द्र-कर-धौत-धरातलों में।
वे थीं स-मोद करतीं मधु-सिक्त बातें ॥१२४॥

कोई प्रफुल्ल-लतिका कर से हिला के।
बर्षा-प्रसून करती प्रिय-अंक में थीं।
कोई स पल्लव स-पुष्प मनोज्ञ-शाखा।
था प्रेम साथ रखता कर-प्रेमिका में ॥१२५॥

आ मंद-मंद मन-मोहन मण्डली में।
बातें बड़ी-सरस थे सब को सुनाते।
भावों समेत स्वर में मृदुता मिला के।
या थे महा-मधु-मयी-मुरली बजाते ॥१२६॥

आलोक-उज्ज्वल दिखा गिरि-शृंग-माला।
थे यों मुकुन्द कहते छवि-दर्शकों से।
देखो गिरीन्द्र-शिर पै महती-प्रभा का।
है चन्द्र-कान्त-मणि-मण्डित-क्रीट कैसा ॥१२७॥

धारा-मयी अमल श्यामल-अर्कजा में।
छाया स-तारक विलोक छपा-पती की।
थे भाखते खचित-रत्न असेत साटी।
है पैन्हली प्रमुदिता-बनभू बधू ने ॥१२८॥

ज्योतिर्मयी-विकसिता-हसिता लता के।
लालित्य-साथ लपटी तरु से दिखा के।
थे भाखते पति-रता-अवलम्बिता का।
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता ॥१२९॥

आलोक-से लसित पादपवृन्द नीचे।
छाये हुए तिमिर को कर से दिखा के।

थे यों मुकुन्द कहते मलिनान्तरों का ।
है वाह्य-रूप बहु-उज्ज्वल दृष्टि आता ॥१३०॥

ऐसे मनोरम-प्रभामय-काल में भी ।
म्लाना नितान्त अवलोक सरोजिनी को ।
थे यों ब्रजेन्दु कहते ललना-सती को ।
स्वामी-बिना-सब तमो-मय है दिखाता ॥१३१॥

फूले हुए कुमुद देख सरोवरों में ।
माधो सु-उक्ति यह थे सब को सुनाते ।
उत्कर्ष देख निज अंकपले शशी का ।
है वारि-राशि मिस-कैरव हृष्ट होता ॥१३२॥

फैली विलोक सब ओर मयंक-आभा ।
आनन्द साथ कहते यह थे विहारी ।
है कीर्त्ति, भूककुभ में अति कान्त छाई ।
प्रत्येक धूलि-कणरंजन-कारिणी की ॥१३३॥

फूलों दलों पर विराजित ओस बूँदे ।
जो श्याम को दमकती दुति से दिखातीं ।
तो वे समोद कहते बन-देवियों ने ।
की है कला पर निछावर मुक्त-माला ॥१३४॥

आ-पाद-मस्तक-खिले कमनीय पौधे ।
जो देखते मुदित हो कर तो बताते ।
होके सु-रंजित सुधा-निधि की कला से ।
फूले नहीं नवल-पादप हैं समाते ॥१३५॥

यों थे कला-कर दिखा कहते विहारी ।
है स्वर्ण मेरु यह मेदिनि-माधुरी का ।

है कल्प-पादक अनूपमताटवी का ।
आनन्द-अंबुधि बिचित्र महा-मणी है ॥१३६॥

है ज्योति-आकर पयोधर है सुधा का ।
शोभा-निकेत प्रिय-बल्लभ है निशा का ।
है भाल का प्रकृति के अभिराम भूषा ।
सर्वस्व है परम-रूपवती कला का ॥१३७॥

जैसी मनोहर हुई यह यामिनी थी ।
वैसी कभी न जन-लोचन ने बिलोकी ।
जैसी बही रससरी इस शर्वरी में ।
वैसी कभी न ब्रज-मेदिनि में बही थी ॥१३८॥

जैसी बजी मधुर-बीन मृदंग-बंशी ।
जैसा हुआ रुचिर नृत्य विचित्र गाना ।
जैसा बँधा इस निशीथिनि में समां था ।
होगी न कोटिमुख से उसकी प्रशंसा ॥१३९॥

आँखों अनूप छबि है जिसने बिलोकी ।
बंशी-निनाद मन दे जिसने सुना है ।
देखा बिहार इस यामिनि में जिन्होंने ।
कैसे मुकुन्द उनके उर से कढ़ेंगे ॥१४०॥

होके बिभिन्न, रबि का कर, ताप त्यागे ।
देवे मयंक-कर को तज माधुरी भी ।
तो भी नहीं ब्रज-धरा-जन के उरों से ।
उत्फुल्ल मूर्त्ति मनमोहन की कढ़ेगी ॥१४१॥

कुंजें वही थल वही यमुना वही है ।
बेलें वही बन वही बिटपी वही हैं ।

हैं पुष्प-पल्लव वही ब्रज भी वही है।
पै किन्तु श्याम बिन है न वही जनाते ॥१४२॥
कोई दुखी-जन बिलोक पसीजता है।
कोई विषाद-वश रो पड़ता दिखाया।
कोई प्रबोध कर, है परितोष देता।
हैं किन्तु सत्य हित-कारक व्यक्ति कोई ॥१४३॥
सच्चे-हितू तुम बनो ब्रज की धरा के।
ऊधो यही बिनय है मुझ सेविका का।
कोई दुखी न ब्रज के जन तुल्य होगा।
ए हैं अनाथ-सम भूरी-कृपाधिकारी ॥१४४॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

बातों ही में दिन गत-हुआ किन्तु गोपी न ऊबीं।
वैसे ही थीं कथन करती वे व्यथायें-स्वकीया।
पीछे आईं पुलिन पर जो सैकड़ों-गोपिकायें।
वे कष्टों को अधिक-तर हो उत्सुका थीं सुनाती ॥१४५॥

वंशस्थ छन्द।

परन्तु संध्या अवलोक आगता।
मुकुन्द के बुद्धि-निधान बंधु ने।
समस्त-गोपी-जन को प्रबोध दे।
समाप्त आलोचित-वृत्त को क्रिया ॥१४६॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

तदुपरान्त अतीव-सराहना।
कर अनूपम-पावन प्रेम की।
वह बियोग-भरी-ब्रज-बाम से।
परम-आदर साथ बिदा हुए ॥१४७॥

—:-:*:-:—

पंचदश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

छाई प्रातः-समय छबि थी पुष्प औ पल्लवों में।
कुंजों में थे भ्रमण-करते हो महा मुग्ध ऊधो।
चावों-वाले-अनुपम इसी काल में एक-बाला।
भावों-द्वारा-भ्रमित उन को सामने-दृष्टि-आई॥ १॥

नाना-बातें कथन-करते देख पुष्पादिकों से।
उन्मत्ता लौं बिविध करते देख न्यारी-क्रियायें।
उत्कण्ठा के सहित उस का वे लगे भेद लेने।
कुंजों में औ विपुल-तरु की ओट में मौन-बैठे॥ २॥

थे बाला के युगल-दृग के सामने पुष्प-नाना।
जो हो हो के बिकच, कर में भानु के सोहते थे।
फूला-प्यारा-कुसुम-यक था लालिमा-अल्प-वाला।
सो यों बोली निकट उसके जा बड़ी ही व्यथा से॥ ३॥

आहा कैसी तुझ पर लसी माधुरी है अनूठी।
तू ने कैसी सरस-सुषमा आज है पुष्प पाई।
चूमूं चाटूं नयन-भर मैं रूप तेरा बिलोकूं।
जी होता है हृदय-तल से मैं तुझे ले लगा लूं॥ ४॥

क्या बातें हैं मधुर इतना आज तू जो बना है।
क्या आते हैं ब्रज-अवनि में मेघ सी कान्ति-वाले।
या कुंजों में अटन करते देख पाया उन्हें है।
या आके है स-मुद-परसा हस्त द्वारा उन्होंने॥ ५॥

तेरी प्यारी-मधुर-सरसा-लालिमा है बताती।
तू डूबा है हृदय-तल लौं लाल के रंग ही में।
मैं होती हूं बिकल पर तू बोलता भी नहीं है।
क्या ए तेरी बिपुल-रसना कुंठिता हो गई है॥ ६॥

हा ! कैसी मैं निठुर तुझ से वंचिता हो रही हूं ।
जो जिह्वा हूं कथन-रहिता-पंखड़ी को बनाती ।
तू क्यों होगा सदय दुख क्यों दूर मेरा करेगा ।
तू काँटों से जनित यदि है काठ का जो सगा है ॥७॥
आके जूही निकट फिर यों बालिका-व्यग्र बोली ।
मेरी बातें तनिक न सुनी पातकी-पाटलों ने ।
पीड़ा नारी-हृदय-तल को नारि ही जानती है ।
जूही तू है बिकच-बदना शान्ति तू ही मुझे दे ॥८॥
तेरी भीनी-महँक मुझको मोह-लेती सदा थी ।
क्यों है प्यारी न वह लगती आज, सच्ची बतादे ।
क्या तेरी है महँक बदली या हुई और ही तू ।
या तेरा भी सरबस गया साथ ऊधो-सखा के ॥९॥
छोटी-छोटी-रुचिर अपनी श्याम-पत्रावली में ।
तू शोभा से बिकच जब थी भूरिता-साथ होती ।
तो ताराओं-खचित नभ लौं भव्य तू थी दिखाती ।
हा ! क्यों वैसी सरस छबि से वंचिता आज तू है ॥१०॥
वैसी ही है सकल-दल में श्यामता दृष्टि आती ।
तू वैसी ही अधिक-तर है बेलियों-मध्य फूली ।
क्यों पाती हूं न अब तुझ में चारुता पूर्व जैसी ।
क्यों है तेरी यह गत हुई क्या न देगी बता तू ॥११॥
मैं पाती हूं अधिक तुझ में क्यों कई एक बातें ।
क्यों देती है व्यथित कर क्यों वेदना है बढ़ाती ।
क्यों होता है न दुख तुझ को वंचना देख मेरी ।
क्या तू भी है निठुरपन के रंग ही बीच डूबी ॥१२॥
हो हो पूरी चकित सुनती वेदना है हमारी ।
या तू खोले बदन हँसती है दशा देख मेरी ।
मैं तो तेरा सुमुखि इतना मर्म्म भी हूं न पाती ।
क्या आशा है अपर तुझ से है निराशा-मयी तू ॥१३॥

जो होता है सुखित उस को बेदना दूसरों की।
क्या होती है बिदित जब लौं भुक्त-भोगी न होवे।
तू फूली है हरित-दल में बैठ के सोहती है।
क्या जानेगी कुसुम बनते म्लान को बेदनायें ॥१४॥

तू कोरी है न कुछ तुझ में प्यार का रंग भी है।
क्या देखेगी न फिर मुझ को प्यार की आँख से तू।
मैं पूछूंगी भगिनि तुझ से आज दो एक बातें।
तू क्या होके सदय बतला ऐ चमेली न देगी ॥१५॥

थोड़ी-लाली पुलकित-करी पंखड़ी-मध्य जो है।
क्या सो वृन्दा-बिपिन-पति की प्रीति की व्यंजिका है।
जो है तो तू सरस-रसना खोल ले औ बता दे।
क्या तू भी प्रियगमन से यों महा-शोक-मग्ना ॥१६॥

मेरा जी तो व्यथित बन के बावला हो रहा है।
व्यापीं सारे-हृदय-तल में बेदनायें सहस्रों।
मैं पाती हूं न कल दिन में, रात में ऊबती हूं।
भींगा जाता सब बदन है बारि-द्वारा दृगों के ॥१७॥

क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य यों ही।
जो पत्तों में पतित इतनी बारि की बूंदियाँ हैं।
पीड़ा-द्वारा मथित-उर के प्रायशः काँपती है।
या तू होती मृदु पवन से मन्द आन्दोलिता है ॥१८॥

तेरे पत्ते अति रुचिर हैं कोमला तू बड़ी है।
तेरा पौधा कुसुम-कुल में है बड़ा हो अनूठा।
मेरी आंखें ललक पड़ती हैं तुझे देखने को।
हा तो क्यों भी व्यथित चित की तू न आमोदिका है ॥१९॥

हा! बोली तू न कुछ मुझ से औ न भाखीं स्व-बातें।
मेरा जी है कथन करता तू हुई तद्गता है।
मेरे प्यारे कुंवर तुझको चित्त से चाहते थे।
तेरी होगी न फिर दयिते आज ऐसी दशा क्यों ॥२०॥

जूही बोली न कुछ जतला प्यार बोली चमेली।
मैंने देखा युगल दृग से रंग भी पाटलों का।
तू बोलेगा सदय बन के ईदृशी है न आशा।
पूरा-कोरा निठुरपन की मूर्त्ति ऐ पुष्प बेला ॥ २१ ॥
मैं पूछूंगी तदपि तुझ से आज बातें स्वकीया।
तेरा होगा सुयश मुझ से सत्य जो तू कहेगा।
क्यों होते हैं पुरुष कितने प्यार से शून्य कोरे।
क्यों होता है न उर उनका सिक्त स्नेहाम्बु द्वारा ॥ २२ ॥
आके तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
तेरी तीखी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।
क्यों होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका को।
क्यों तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बता तू ॥ २३ ॥
तेरी सारे सुमन-चय से स्वेतता उत्तमा है।
अच्छा होता अधिक यदि तू सात्विकी वृत्ति पाता।
हा होती है प्रकृति रुचि में अन्यथा-कारिता भी।
तेरा ऐरे निठुर तनु वा साँवला रंग होता ॥ २४ ॥
नाना पीड़ा निठुर-कर से नित्य मैं पा रही हूं।
तेरे में भी निठुरपन का भाव पूरा भरा है।
हो हो खिन्ना परम तुझ से मैं अतः पूछती हूं।
क्यों देते हैं निठुर जन यों दूसरों को व्यथायें ॥ २५ ॥
हा! तू बोला न कुछ अब लौं तू बड़ा निर्दयी है।
मैं कैसी हूं बिबश तुझ से जो वृथा बोलती हूं।
खोटे होते दिवस जब हैं भाग्य जो फूटता है।
कोई साथी अवनि-तल में है किसी का न होता। २६ ॥
जो प्रेमांगी परम बन के औ तदाकार होके।
पीड़ा मेरे हृदय-तल की पाटलों ने न जानी।
तो तू हा के धवल तन औ कुन्त-आकार-अंगी।
क्यों बोलेगा व्यथित चित की क्यों व्यथा जान लेगा ॥२७॥

चम्पा तू है बिकसित-मुखी रूप औ रंग वाली।
पाई जाती सुरभि तुझ में एक सत्पुष्प-सी है।
तो भी तेरे निकट न कभी भूल है भृंग आता।
क्या है ऐसे कसर तुझ में न्यूनता कौन सी है॥ २८॥

क्या पीड़ा है न कुछ इसकी चित्त के मध्य तेरे।
क्या तू ने है मरम इस का अल्प भी जान पाया।
तू ने की है सुमुखि अलि का कौन सा दोष ऐसा।
जो तू मेरे सदृश प्रिय के प्रेम से बंचिता है॥ २९॥

सर्वांगों में सरस रज औ धूलियों को लपेटे।
जा पुष्पों में स-बिधि करता गर्भआधान जो है।
जो आता है मधुर रस का मंजु जो गूँजता है।
ऐसे प्यारे रसिक अलि से तू असम्मानिता है॥ ३०॥

जो आँखों में मधुर-छबि की मूर्ति सी आँकता है।
जो हो जाता उदधि-उर के हेतु राका-शशी है।
जो बंशी के बिबिध स्वर से है सुधा सी बहाता।
ऐसे माधो-बिरह-दव से दग्धिता-भूरि मैं हूँ॥ ३१॥

मेरी तेरी बहुत मिलती बेदनायें कई हैं।
आ रोऊँ ऐ-भगिनि तुझ को मैं गले से लगा के।
जो रोती हैं दिवस-रजनी दोष जाने बिना ही।
ऐसी भी हैं अवनि-तल में जन्म लेती अनेकों॥ ३२॥

मैंने देखा अवनि-तल में स्वेत ही रंग ऐसा।
जैसा चाहे जतन करके रंग वैसा उसे ले।
तेरे ऐसी रुचिर-सितता कुन्द मैंने न देखी।
क्या तू मेरे हृदय-तल के रंग में भी रँगेगा॥ ३३॥

क्या है होना बिकच इसको पुष्प ही जानते हैं।
तू कैसा है रुचिर लगता पत्तियों मध्य फूला।
तोभी कैसी व्यथित-कर है सो कथा हाय! होती।
हो जाती है बिधि कुमति से म्लान फूले बिना जो॥३४॥

मेरे जी की मृदुल-कलिका प्रेम के रंग डूबी।
म्लाना होती अहह नित है अल्प भी जो न फूली।
क्या देवेगा बिकच इस को स्वीय जैसा बना तू।
या हो शोकोपहत इस के तुल्य तू म्लान होगा ॥ ३५ ॥
वे हैं मेरे दिन अब कहां स्वीय-उत्फुल्लता को।
जो तू मेरे हृदय-तल में अल्प भी ला सकेगा।
हां थोड़ा भी यदि उर मुझे देख तेरा द्रवेगा।
तो तू मेरे मलिन-मन की म्लानता पा सकेगा ॥ ३६ ॥
हो जावेगी प्रथित-मृदुता पुष्प संदिग्ध तेरी।
जो तू होगा व्यथित न किसी कष्टिता की व्यथा से।
कैसे तेरी सुमन-अभिधा सार्थ ऐ कुन्द होगी।
जो होवेगा न अ-बिकच तू म्लान होते चितों से ॥३७॥
सोने जैसा बरण जिस ने गात का है बनाया।
चित्तामोदी-सुरभि जिसने केतकी दी तुझे है।
काँटों वाली सृजन तुझ को क्यों उसी ने किया है।
दी है धूली बिपुल, अलि की दृष्टि-विध्वंसिनी क्यों ॥३८॥
कालिन्दी सी कलित-सरिता दर्शनीयां निकुंजें।
प्यारा-बृन्दा-बिपिन बिटपी-चारू न्यारी-लतायें।
शोभा वाले-बिहग जिस ने हैं दिये हा! उसी ने।
कैसे माधो-रहित ब्रज की मेदनी को बनाया ॥ ३९ ॥
क्या थोड़ा भी सजनि इस का मर्म्म तू पा सकी है।
क्या धाता की प्रगट इससे मूढ़ता है न होती।
कैसा होता जगत सुख का धाम औ मुग्ध-कारी।
निर्माता की मिलित इस में बामता जो न होती ॥ ४० ॥
मैं ने देखा अधिक तर है भृंग आ पास तेरे।
अच्छा पाता न फल अपनी मुग्धता का कभी है।
आजाती है युगल-दृग में अंधता धूलि-द्वारा।
काँटों से हैं उभय उस के पक्ष भी छिन्न होते ॥ ४१ ॥

क्यों होती है अहह इतनी यातना प्रेमिकों की।
क्यों बाधा औ बिपत मय है प्रेम का पंथ होता।
जो प्यारा औ रुचिर-बिटपी जीवनोद्यान का है।
सो क्यों तीखे-कुटिल उभरे-कंटकों से भरा है ॥ ४२ ॥

प्यारों-डूबा हृदय-तल है पुष्प-बन्धूक तेरा।
मर्य्यादा तू समझ सकता प्रेम के पंथ की है।
तेरी गाढ़ी नवल तन की लालिमा है बताती।
पूरा पूरा दिवस-पति के प्रेम में तू पगा है ॥ ४३ ॥

तेरे जैसे प्रणय-पथ के पान्थ उत्पन्न हो के।
प्रेमी की हैं प्रगट करते पक्वता मेदनी में।
मैं पाती हूं परम-सुख जो देख लेती तुझे हूं।
क्या तू मेरी उचित कितनी प्रार्थनायें सुनेगा ॥ ४४ ॥

मैं गोरी हूं कुंवर-बर को कान्ति है मेघ की सी।
कैसे मेरा,महर-सुत का, भेद निमूंल होगा।
जैसे तू है परम-प्रिय के रंग में पुष्प डूबा।
कैसे वैसे जलद तन के रंग में मैं रँगूंगी ॥ ४५ ॥

पूरा-ज्ञाता समझ तुझ को प्रेम की नीतियों का।
मैं ऐ प्यारे-कुसुम तुझ से युक्तियां पूछती हूँ।
मैं पाऊंगी हृदय-तल में उत्तमा-शान्ति कैसे।
जो डूबेगा न मम-तन भी श्याम के रंग ही में ॥ ४६ ॥

ऐसो, हो के कुसुम तुझ में प्रेम की पक्वता है।
मैं हो के भी मनुज कुल की,न्यूनता से भरी हूँ।
कैसी लज्जा परम-दुःख की बात मेरे लिये है।
छा जावेगा न प्रिय-तम का रंग सर्वाङ्ग मे जो ॥ ४७ ॥

वंशस्थ छन्द।

खिला हुआ सुन्दर-बेलि अंक में।
मुझे बता श्याम-घटा प्रसून तू।

तुझे मिली क्यों किस पूर्व-पुण्य से।
अतीव-प्यारी-कमनीय-श्यामता ॥४८॥

हरीतिमा वृन्त-समीप की भली।
बिराजती-मध्य मनज्ञ-स्वेतता।
लसी हुई श्यामलताग्र भाग में।
नितान्त है दृष्टि-बिनोद-वर्द्धिनी ॥४९॥

परन्तु तेरा बहु-रंग देख के।
अतीव होती चित बीच है व्यथा।
अपूर्व होता इस बिश्व मध्य तू।
निमग्न होता यदि श्याम रंग में ॥५०॥

तथापि तू अल्प न भाग्यमान है।
चढ़ा हुआ है कुछ श्याम-रंग तो।
अभागिनी हूं अति मैं, बिराजती।
न श्यामता है जिसके शरीर में ॥५१॥

न स्वल्प होती तुझ में सुगंधि है।
तथापि सम्मानित सर्व काल में।
तुझे रखेगा ब्रज-लोक दृष्टि में।
प्रसून तेरी यह-श्यामलांगता ॥५२॥

दिवा-पती है जिस ओर राजता।
उसी दिशा में स-उमंग घूम तू।
बिलोकती है जिस चाव से उसे।
सदैव ऐ सूर्यमुखी सु-आनना ॥५३॥

अपूर्व ऐसे दिन थे मदीय भी।
समान तेरे अतिही-प्रफुल्ल हो।

विलोकती थी जब चाव से उसी।
मुकुन्द के मैं बदनारविन्द को ॥५४॥

परन्तु मेरे अब वे न बार हैं।
न पूर्व की सी वह है प्रफुल्लता।
तथैव मैं हूं मलिना यथैव तू।
विभावरी में बनती मलीन है ॥५५॥

निशान्त में तू प्रिय-स्वीय कान्त से।
पुनः सदा है मिलती प्रफुल्ल हो।
परन्तु होगी न व्यतीत ऐ-प्रिये।
मदीय-घोरा-रजनी-बियोग की ॥५६॥

नृलोक में है वह भाग्यशालिनी।
सुखी बने जो विपदावसान में।
अभागिनी है वह विश्व में बड़ी।
न अन्त होवे जिस की विपत्ति का ॥५७॥

मालिनी छन्द

कुबलय-कुल में से तो अभी तू कढ़ा है।
बहु विकसित-प्यारे पुष्प में भी रमा है।
अलि अब मत जा तू कुंज में मालती की।
सुन मुझ अकुलाती ऊबती की व्यथायें ॥५८॥

यह समझ प्रसूनों पास मैं आज आई।
इस छिति-तल, में ए मूर्त्ति-उत्फुल्लता है।
पर सुखित करेंगे ए मुझे आह! कैसे।
जब विविध दुखों में मग्न होते स्वयं हैं ॥५९॥

कतिपय-कुसुमों को म्लान होते विलोका।
कतिपय बहु-कीटों के पड़े पेच में हैं।
मुख पर कितने हैं वायु की धौल खाते।
कतिपय-सुमनों की पंखड़ी भू पड़ी है ॥६०॥

तदपि इन सबों में ऐंठ देखी बड़ी ही।
लख दुखित-जनों को ए नहीं म्लान होते।
चित-द्रवित न होता है व्यथा-अन्य-द्वारा।
बहु-भव-जनितों की वृत्ति ही ईदृशी है ॥६१॥

अयि-अलि तुझ में भी सौम्यता हूं न पाती।
मम-दुख सुनता है चित्त देके नहीं तू।
अति-चपल बड़ा ही ढीठ औ कौतुकी है।
थिर तनक न होता है किसी पुष्प में भी ॥६२॥

यदि तज कर के तू गूँजना धैर्य्य-द्वारा।
कुछ समय सुनेगा बात मेरी व्यथा की।
तब अवगत होगा बालिका-एक भू में।
विचलित कितनी है प्रेम से वंचिता हो ॥६३॥

अलि यदि मन देके भी नहीं तू सुनेगा।
निज-दुख तुझ से मैं आज तो भी कहूंगी।
कुछ कह उनसे, है चित्त में मोद होता।
छिति-पर जिनकी हूँ श्यामली मूर्त्ति पाती ॥६४॥

इस छितितल में क्या व्योम के अंक में भी।
प्रिय वपु छवि शोभी-मेघ जो घूमते हैं।
इक टक पहरों मैं तो उन्हें देखती हूँ।
कह निज मुखद्वारा बात क्या क्या न जानें ॥६५॥

मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति-अनुपम जैसी श्याम के गात की है।
पर जब नयनों से देखलेती तुझे हूँ।
बस मम उर में है श्यामलो मूर्ति जाती ॥६६॥

तव-तन पर जैसी पीत-आभा लसी है।
प्रियतम कटि में है सोहता वस्त्र वैसा।
गुन गुन करना औ गूँजना देख तेरा।
रस मयि-मुरली का नाद है याद आता ॥६७॥

जब बिरह बिधाता ने सृजा विश्व में था।
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी।
यदि स्मृति बिरचा तो क्यों उसे है बनाया।
वपनपटु कुपीड़ा बीज प्राणी-उरों में ॥६८॥

अलि पड़ कर हाथों प्रेम के नित्य तू भी।
लघु गुरु कितनी ही यातना भोगता है।
बिधिबश बँधता है कोष में पंकजों के।
बहु-दुख लहता है बिद्ध हो कंटकों से ॥६९॥

पर निज जितनी मैं बेदना पा रही हूँ।
अति-लघु उससे है यातना भृंग तेरी।
मम-दुख यदि तेरे गात की श्यामता है।
तव दुख उसकी ही पीतता तुल्य तो है ॥७०॥

बहु-बुध कहते हैं पुष्प के रूप-द्वारा।
अपहृत चित होता है अनायास तेरा।
कतिपय-मति-शाली हेतु आशक्तता का।
अनुपम-मधु किम्वा गंध को हैं बताते ॥७१॥

यदि इन विषयों को रूप गंधादिकों को।
मधु-कर हम तेरे मोह का हेतु मानें।
यह अवगत होना चाहिये भृंग तो भी।
दुख-प्रद तुझ को तो तीनहीं इन्द्रियां हैं ॥७२॥

पर मुझ अबला की बेदना-दायिनी हा।
समधिक-गुण वाली पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।
तदुपरि कितनी ही मानवी बंचना हैं।
अति-अधिक न होंगी क्यों हमारी व्यथायें ॥७३॥

जब हम व्यथिता हैं ईदृशी तो तुझे क्या।
कुछ सदय न होना चाहिये श्यामबन्धो।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर होके दृगों से।
मत निठुर बने तू सामने लोचनों के ॥७४॥

नव-नव-कुसुमों के पास जा मुग्ध हो हो।
गुन गुन करता है चाव से बैठता है।
पर कुछ सुनता है तू न मेरी व्याथायें।
मधुकर इतना क्यों हो गया निर्दयी है ॥७५॥

नहिं टल सकता था श्याम के टालने से।
मम-मुख दिशि आता था स्वयं मत्त होके।
यक दिन वह था औ एक है आज का भी।
जब मुख-दिशि मेरे ताकता भी नहीं तू ॥७६॥

कुछ दुख नहिं कोई बाँट लेता किसी का।
सब परिचय-वाले प्यारही हैं दिखाते।
यदि नहिं इतना भी हो सका तो कहूँगी।
मधु-कर यह सारा दोष है श्यामता का ॥७७॥

द्रुतविलंबित छन्द।

कमललोचन क्या कल आ गये।
पलट क्या कु-कपाल-क्रिया गई।
किसलिये ब्रज कानन में उठी।
मुरलिका नलिका-उर-बालिका ॥७८॥

किस तपोबल से किस काल में।
सच बता मुरली कल-नादिनी।
अवनि में तुझ को इतनी मिली।
मधुरता, मृदुता, मनहारिता ॥७९॥

चकित है किस को करती नहीं।
नहिं किसे करती अनुरक्त है।
निवसती तव सुन्दर अंक में।
सरसता, शुचिता रुचिकारिता ॥८०॥

निरख व्यापकता प्रतिपत्ति की।
कथन क्यों न करूं अयि वंशिके।
निहित है तव पोर अनूप में।
सफलता, कलता, अनुकूलता ॥८१॥

मुरलिके कह क्यों तव नाद से।
विकल हो उठती बहु-बाम हैं।
किस लिये बनती अति-व्यस्त हैं।
पुलकती, हँसती, मृदु बोलती ॥८२॥

स्वर फुँका तव है किस मंत्र से।
सुन जिसे परमाकुल मत्त हो।
सदन हैं तजती बहु बालिका।
उमगती, ठगती, अनुरागती ॥८३॥

तव प्रवंचित हैं बन छानती।
विवश सी कितनी ब्रज-गोपिका।
युग बिलोचन से जल मोचती।
ललकती कँपती अवलोकती ॥८४॥

यदि बजी फिर, तो बज ऐ प्रिये।
अपर है तुझसी न मनोहरा।
पर कृपा करके कर दूर तू।
कुटिलता, कटुता, मदशालिता ॥८५॥

बिपुल-छिद्र-वती बन के तुझे।
यदि समादर का अनुराग है।
तज न तो अयि गौरव-शालिनी।
सरलता सतता कुल-शीलता ॥८६॥

लसित है कर में ब्रज-देव के।
मुरलिके तप के बल आज तू।
इस लिये सरला-ब्रजबाल को।
मत सता, न जता मतिहीनता ॥८७॥

वंशस्थ छन्द।

मदीय-प्यारी अयि कुंजकोकिला।
मुझे बता तू ढिग कूक क्यों उठी।
बिलोक मेरी चित-भ्रान्ति क्या बनी।
बिषादिता संकुचिता निपीड़िता ॥८८॥

प्रवंचना है यह पुष्प कुंज की।
भला नहीं तो ब्रज-मध्य श्याम की।
कभी बजेगी अब क्यों सु-बाँसुरी।
सुधाभरी मुग्धकरी रसोदरी ॥८९॥

विषादिता तू यदि कोकिला बनी।
बिलोक मेरी गति तो कहीं न जा।
समीप बैठी सुन सर्व-बेदना।
कुसंगजा मानसजा मदंगजा ॥६०॥

यथैव हो पालित काक-अंक में।
त्वदीय-बच्चे बनते त्वदीय हैं।
तथैव माधो यदुबंश में मिले।
दुखी बना, मंजु मना, ब्रजांगना ॥६१॥

तथापि होती उतनी न बेदना।
न श्याम को जो ब्रज-भूमि भूलती।
नितान्त ही है दुखदा, कपाल की।
कुशीलता, आविलता, करालता ॥६२॥

कभी न होगी मथुरा प्रबासिनी।
निबासिनी गोकुल-ग्राम-गोपिका।
भला करे लेकर राज-भोग क्या।
यथोचिता श्यामरता बिमोहिता ॥६३॥

जहाँ न बृन्दा-बन है बिराजता।
जहां नहीं है ब्रज भू-मनोहरा।
न स्वर्ग है बांछित, है जहां नहीं।
प्रवाहिता भानु-सुता प्रफुल्लिता ॥६४॥

करील हैं कामद कल्प-वृक्ष से।
गवादि हैं काम-दुघा गरीयसी।
सुरेश क्या है जब नेत्र में रमा।
महामना श्यामघना-लुभावना ॥६५॥

जहाँ न बंशी-बट है न कुंज है।
जहाँ न केकी पिक हैं न शारिका।
न चाह बैकुण्ठ रखें, न है जहां।
बड़ी भली, भानु-लली, समाअली ॥९६॥

न कामुका हैं हम राज-बेश की।
न नाम प्यारा यदु-नाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की।
बिरागिनी पागलिनी बियोगिनी ॥९७।

निशम्य बातें-मम बेदना-भरी।
पिकी हुई तू दुखिता अतीव है।
बना रहा है तव-बोलना मुझे।
व्यथामयी दाहमयी दुखोंमयी ॥९८॥

नहीं नहीं है मुझको बता रही।
नितान्त तेरे स्वर की अधीरता।
वियोग से है प्रिय के मुझे मिली।
अवांछिता कातरता मलीनता ॥९९॥

अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा।
सुना स्व-वेधी-स्वर जीवितेश को।
अभिज्ञ वे हों जिस से वियोग की।
कठोरता व्यापकता गँभीरता ॥१००॥

परन्तु तू तो अब लौं उड़ी नहीं।
प्रिये पिकी क्या मथुरा न जायगी ?।
न जा, वहाँ है न पधारना भला।
उलाहना है सुनना जहाँ मना ॥१०१॥

वसंततिलका छन्द।

पाके तुझे परम-पूत-पदार्थ पाया।
आई प्रभा प्रबहु-मान-दुखी-दृगों में।
होती विवर्द्धित घटीं उर-बेदनायें।
ऐ पद्म-तुल्य-पद-पावन-चिह्न प्यारा ॥१०२॥

कैसे बहे न दृग से नित बारि-धारा।
कैसे बिदग्ध दुख से बहुधा न होऊं।
तू भी मिला न मुझ को अब लौं कहीं था।
कैसे प्रमोद अप्रमोदित-प्राण पावे ॥१०३॥

माथे मलूं मुदित हो उर में लगाऊं।
है चित्त चाह सु-बिभूति उसे बनाऊं।
तेरी पुनीत रज लेकर के करूं मैं।
सानन्द अंजित सुरंजित-लोचनों में ॥१०४॥

लाली ललाम मृदुता-अवलोकनीया।
तीसी-प्रसून-सम-श्यामलता-सलोनी।
कै पदांक तुझ को पद सी मिलेगी।
तो भी बिमुग्ध करती तव-माधुरी है ॥१०५॥

दैवेच्छया पृथक हो पद-कंज से तू।
जैसे अचेत अवनी-तल में पड़ा है।
वोहीं मुकुन्द-पद-पंकज से जुदा हो।
मैं भी अचिन्तित-अचेतनता-मयी हूं ॥१०६॥

होती विदूर कुछ व्यापकता दुखों की।
पाती अलौकिक पदार्थ बसंधरा में।

हूं मैं नितान्त रुचि से तुझ को उठाती ।
प्यारे पदांक अब तू मम-अंक में आ ।
हा ! दैव क्या यह हुआ ? उह ! क्या करूं मैं ।
कैसे हुआ प्रिय पदांक विलोप भू में ॥१०८॥

क्या हैं कलंकित-बड़े युग हस्त मेरे ।
क्या छू पदांक सकता इन को नहीं था ।
ए हैं अवश्य अति-निंद्य महा कलंकी ।
जो हैं प्रवंचित हुए पद-अर्चना से ॥१०९॥

मैं भी नितान्त जड़ हूं यदि हाय ! मैंने ।
भ्रान्ता-अतीव बन के इतना न जाना ।
जो हो विदेह बन मध्य कहीं पड़े हैं ।
वे हैं किसी अपर के कब हाथ आते ॥११०॥

पादांक पूत अयि धूलि प्रशंसनीया ।
मैं बाँधती समुद अंचल में तुझे हूं ।
होगी मुझे सतत तू बहु-शान्ति-दाता ।
देगी प्रकाश तम में तिरते दृगों को ॥१११॥

मालिनी छन्द ।

कुछ कथन करूंगी मैं स्वकीया-व्यथायें ।
बन सदय सुनेगी क्या नहीं नेह द्वारा ।
प्रति पल बहती ही क्या चली जायगी तू ।
कल-कल करती ऐ कालिंदी केलि-शीला ॥११२॥

कल-मुरलि-निनादी लोभनीयांग-शोभी ।
अलि कुल-मति-लोपी-कुन्तली-कांति-शाली ।
अयि-पुलकित अंके आज लौं क्यों न आया ।
वह कलित-कपोलों कान्त-आलाप-वाला ॥११३॥

अब अ-प्रिय हुआ है क्यों उसे गेह आना।
प्रति दिन जिसकी ही ओर आँखें लगी हैं।
पग-हित जिनमें मैं नित्य ही हूँ बिछाती।
पुलकित-पलकों के पाँवड़े प्यारा-द्वारा ॥११४॥

मम-उर जिसके ही हेतु है मोम जैसा।
निज उर वह क्यों है पाहनों सा बनाता।
बिलसित जिस में है मूर्त्ति प्यारी उसीकी।
वह उस चित की है चेतना क्यों चुराता ॥११५॥

जिस पर निज प्राणों को दिया वार मैंने।
वह प्रिय निर्मोही हो गया ऐ-सखी क्यों।
जिस बिन युग लौं है बीतता याम मेरा।
वह छवि दिखलाता क्यों नहीं लोचनों को ॥११६॥

सब तज हम ने है एक पाया जिसे ही।
अयि अलि उस ने है क्या हमें त्याग पाया।
हम मुख जिसका ही सर्वदा देखती हैं।
मम-दिशि उसको क्यों देखना भो न आया ॥११७॥

बिलसित उर में है जो सदा देवता लौं।
वह निज उर में है ठौर भी क्यों न देता।
नित वह कलपाता है मुझे कान्त हो क्यों।
जिस बिन कल, पाते हैं नहीं प्राण मेरे ॥११८॥

मम दृग जिस के ही रूप में हैं रमे से।
अहह वह उन्हें हैं निर्ममों सा रुलाता।
यह मन जिन के ही प्रेम में मग्नसा है।
वह मद उसको क्यों मोह का है पिलाता ॥११९॥

जब नहिं अपने हैं अंग ही आज आली।
तब प्रियतम में मैं क्या करूं तर्कनायें।
जब निज-तन का ही भेद मैं हूं न पाती।
तब कुछ कहना ही कान्त को अज्ञता है ॥१२०॥

दृग अति अनुरागी श्यामली मूर्त्ति के हैं।
युगश्रुति सुनना हैं चाहते चारु तानें।
प्रियतम मिलने को लालसा भूरि द्वारा
प्रति पल अधिकाती चित्त की आतुरी है ॥१२१॥

उर बिदलित होता मत्तता बृद्धि पाती।
बहु-बिलख न जो मैं यामिनी-मध्य रोती।
बिरहदव जलाता गात-सारा हमारा।
यदि मम नयनों में वारिधारा न होती ॥१२२॥

कब तक मन मारूं जी जलाऊँ कहाँ लौं।
निज-मृदुल-कलेजे में शिला क्यों लगाऊं।
बन बन बिलपूं या मैं धँसूं मेदिनी में।
निज-प्रियतम प्यारी मूर्त्ति क्यों देखपाऊं ॥१२३॥

तव तट पर आके नित्य ही कान्त मेरे।
प्रफुलित बन भावों में पगे घूमते हैं।
यक-दिन उन को पा प्रेम-डूबा सुनाना।
कल-कल-ध्वनि-द्वारा वेदनायें मदीया ॥१२४॥

विधि-वश यदि तेरी धार में आ गिरूं मैं।
मम-तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना।
उस पर अनुकूला हो, बड़ी मंजुता से।
कल कुसुम अनूठी-श्यामता के उगाना ॥१२५॥

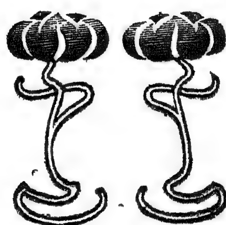
घन-तन-रत मैं हूं तू असेतांगिनी है।
तरलित-उर तू है चैन मैं हूं न पाती
अयि-अलि बन जा तू शान्ति-दाता हमारी।
अति-प्रतपित मैं हूं ताप तू है नसाती ॥१२६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

रोई आके कुसुम-कुल से भृङ्ग के साथ बोली।
बंशी-द्वारा-भ्रमित बन के बात की कोकिला से।
देखा प्यारे कमल-पग के अंक को उन्मना हो।
पीछे आयी तरणि-तनया-तीर उत्कण्ठिता सी ॥१२७॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

तदुपरान्त गई गृह बालिका।
व्यथित ऊधव को अति ही बना।
सब सुना सब ठौर छिपे गये।
पर न बोल सके वह अल्प भी ॥१२८॥



षोड़स सर्ग

वंशस्थ छन्द

विमुग्ध-कारी मधु-मास-मंजु था।
बसुंधरा थी कमनीयता-मयी।
बिचित्रता-साथ बिराजिता रही।
बसंत बासंतिकता बनान्त में ॥ १ ॥

नवीन भूता बन की बिभूति में।
बिनोदिता-वेलि बिहंग-बृन्द में।
अनूपता व्यापित थी बसंत की।
निकुंज में कूजित-कुंज-पुंज में ॥ २ ॥

प्रफुल्लिता कोमल-पल्लवान्विता।
मनोज्ञता-मूर्त्ति नितान्त-रंजिता।
बनस्थली थी मकरंद-मोदिता।
अकीलिता-कोकिल-काकली-मयी ॥३॥

निसर्ग ने सौरभ ने पराग ने।
प्रदान की थी अति कान्त भाव से।
बसुंधरा को पिक को मिलिन्द को।
मनोज्ञता मादकता मदांधता ॥४॥

बसंत की भाव भरी बिभूति सी।
मनोज की मंजुल पीठिका समा।
लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी।
कुमोदिनी-मानस-मोदिनी कहीं ॥५॥

नवांकुरों में कलिका-अनूप में।
नितान्त-न्यारे-फल-पत्र-पुंज में।
निसर्ग-द्वारा सु-प्रसूत-पुष्प में।
प्रभूत-पुंजी-कृत थी प्रफुल्लता ॥६॥

विमुग्धता की वर रंग भूमि सी।
प्रलुब्धता केलि वसुंधरोपमा।
मनोहरा थीं तरु डालियाँ महा।
नई-कली कोमल कोंपलों-भरी ॥७॥

अन्यूनता दिव्य-फलादि की, दिखा।
महत्व औ गौरव, सत्य-त्याग का।
विचित्रता से करती प्रकाश थी।
स-पत्रता पादप पत्र-हीन की ॥८॥

बसंत-माधुर्य्य विकाश-बर्द्धिनी।
क्रिया-मयी-मार-महोत्सवांकिता।
सु-कोंपलें थीं तरु-अंक में लसी।
स-अंगरागा अनुराग रंजिता ॥९॥

नये नये-पल्लव-वान पेड़ में।
प्रसून में आगत थी अपूर्वता।
बसंत में थी अधिकांश-शोभिता।
विकाशिता-बेलिलता-प्रफुल्लिता ॥१०॥

अनार में औ कचनार में बसी।
ललामता थी अतिही-लुभावनी।
बड़े-लसे लोहित-रंग-पुष्प से।
पलाश की थी अपलाशता ढकी ॥११॥

प्रसादिका-लोचन सौरभों-भरी ।
बसंत-बासंतिकता-बिभूषिता ।
बिनोदिता हो बहु थी बिनोदिनी ।
प्रिया-समा मंजु-प्रियाल-मंजरी ॥१२॥

दिशा-प्रसन्ना महि पुष्प-संकुला ।
नये-दलों-पूरित-पादपावली ।
वसंत में थी लतिका स-यौवना ।
अलापिका-पंचम-तान-कोकिला ॥१३॥

अनूप-स्वर्गीय-सुगंध में सना ।
सुधा बहाता धमनी-समूह में ।
समीर आता मलयाचलाँक से ।
किसे बनाता न बिनोद-मग्न था ॥१४॥

प्रसादिनी-पादप, गंध-वर्द्धिनी ।
बिकाशिनी-पुष्प, लताबिनोदिनी ।
अलौकिकी थी मलयानिली-क्रिया ।
बिमोहिनी-चित्त, बिहंग-मोदिनी ॥१५॥

वसंत शोभा प्रतिकूल थी बड़ी ।
बियोग-मग्ना ब्रज-भूमि के लिये ।
बना रही थी उसको व्यथामयी ।
बिकाश-पाती बन-पादपावली ॥१६॥

दृगों उरों को दहती-अतीव थीं ।
शिखाग्नि-तुल्या तरु-पुंज-कोंपलें ।
अनार-शाखा कचनार-डार थी ।
प्रतप्त-अंगार-अपार-पूरिता ॥१७॥

नितान्त ही थी प्रतिकूलता-मयी ।
प्रियाल की प्रीति-निकेत-मंजरी ।
बना अतीवाकुल-म्लान-चित्त को ।
बिदारता था तरु कोबिदार का ॥१८॥

भयंकरी व्याकुलता-प्रसूतिका ।
सशंकता-बर्द्धिनि मोद-नाशिनी ।
अतीव थी रक्तमयी अशोभना ।
पलाश की पंक्ति पलाशिनी समा ॥१९॥

इतस्ततः भ्रान्त-समान घूमती ।
प्रतीत होती अवली अलिन्द की ।
बिदूषिता हो अति थी कलंकिता ।
अलौकिकी-कोकिल-कान्त-कंठता ॥२०॥

प्रसून की मोहकता मनोज्ञता ।
नितान्त थी अन्य-मनस्कतामयी ।
न वांछिता थी न बिनोदनीय थी ।
अ-मानिता हो मलयानिलीयता ॥२१॥

बड़े-यशस्वी-बृष-भानु गेह के ।
समीप थी एक विचित्र बाटिका ।
प्रबुद्ध-ऊधो इस में इन्हीं दिनों ।
प्रबोधने श्री-ब्रज-देवि को गये ॥२२॥

बसंत को पा यह शान्त बाटिका ।
स्वभावतः कान्त-नितान्त थी हुई ।
परन्तु होती उस में स-शान्ति थी ।
बिकाश की कौशल-कारिणी-क्रिया ॥२३॥

शनैः शनैः पादक-पुंज-कोंपलें ।
विकाश पाके करती प्रदान थीं ।
स-आतुरी रक्तिमता-स्वकीय को ।
प्रमोदनीया-कमनीय-श्यामता ॥२४॥

अनेक-आकार-प्रकार से मनों ।
प्रकाशती वे यह गूढ़-मर्म्म थीं ।
नहीं रँगेगा वह श्याम-रंग में ।
न आदि में जो अनुराग में रँगे ॥२५॥

प्रसून थे भाव-स त फूलते ।
लुभावने-श्यामल पत्र-अंक में ।
सुगंधि को पूत ना दिगन्त में ।
पसारती थी पवनातिपावनी ॥२६॥

प्रफुल्लता में अति-गूढ़-म्लानता ।
मिली हुई साथ पुनीत-शान्ति के ।
सु-व्यंजिता संयत भाव संग थी ।
प्रफुल्ल-पाथोज प्रसून-पुंज में ॥२७॥

स-शान्ति आते उड़ते निकुंज में ।
स-शान्ति जाते-ढिग थे प्रसून के ।
बने महा नीरव-शान्त-संयमी ।
स-शान्ति पीते मधु को मिलिन्द थे ॥२८॥

बिनोद से पादप-पै बिराजना
बिहंगिनी साथ बिलास बोलना ।
बँधा हुआ संयम-सूत्र-संग था ।
कलोल-कारी खग का कलोलना ॥२९॥

न प्रायशः आनन त्यागती रही।
नहीं बनाती ध्वनिता दिगन्त थी।
न बाटिका में लहती बिकाश थी।
अ-कुंठता हो कल-कंठ-काकली ॥३०॥

इसी तपो-भूमि-समान बाटिका।
सु-अंक में सुन्दर एक-कुंज थी।
समावृता-श्यामल-पुष्प संकुला।
अनेकशः बेलि-लता-समूह से ॥३१॥

बिराजती थीं वृष-भानु-नन्दिनी।
इसी बड़े-नीरव-शांत-कुंज में।
अतः यहीं श्रीबलबीर-बंधु ने।
उन्हें विलोका अलि-वृन्द-आवृता ॥३२॥

प्रशान्त-म्लाना-बृषभानु-पुत्रि, की।
समीप आके अवलोक देवि-सी।
अलौकिकी-मूर्त्ति महत्व से भरी।
बिचित्र ऊधो-उर की दशा हुई ॥३३॥

अतीव थी कोमल-कान्ति नेत्र की।
परंतु थी शांति विषाद-अंकिता।
विचित्र-मुद्रा मुख-पद्म की रही।
प्रफुल्लता-आकुलता-समन्विता ॥३४॥

स-प्रीति वे आदर के लिये उठीं।
बिलोक आया ब्रज-देव-बंधु को।
पुनः उन्हों ने निज-शांत-कुंज में।
उन्हें बिठाया अति-भक्तिभाव से ॥३५॥

अतीव-सम्मान समेत आदि में।
ब्रजेश्वरी की कुशलात पूछ के।
पुनः सुधी-ऊधव ने स-नम्रता।
कहा संदेशा यह श्याममूर्ति का ॥३६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

प्राणाधारे परम-सरले प्रेम की मूर्ति राधे।
निर्माता ने पृथक तुम से यों किया क्यों मुझे है।
प्यारी आशा-मिलन जिस से नित्य है दूर होती।
कैसे ऐसे कठिन-पथ का पान्थ मैं हो रहा हूं ॥३७॥

जो दो-प्यारे-हृदय मिल के एक ही हो गये हैं।
क्यों धाता ने बिलग उन के गात को यों किया है।
कैसे आके गुरू-गिरि पड़े बीच में हैं उन्हीं के।
जो दो-प्रेमी मिलित पय औ नीर लौं नित्यशः थे ॥३८॥

उत्कण्ठा के विबस नभ को भूमि को पादपों को।
ताराओं को मनुज-मुख को प्रायशः देखता हूं।
प्यारी! ऐसी न ध्वनि मुझ को है कहीं भी सुनाती।
जो चिन्ता से चलित-चित की शान्ति का हेतु होवे ॥३९॥

जाना जाता मरम विधि के बंधनों का नहीं है।
तो भी होगा उचित चित में यों प्रिये सोच लेना।
होती जाती विफल यदि है सर्व-संयोग आशा।
तो होवेगा निहित इस में श्रेय का बीज कोई ॥४०॥

हैं प्यारी औ मधुर सुख औ भोग की लालसायें।
कान्ते, लिप्सा-जगत-हित की और भी है मनोज्ञा।
इच्छा आत्मा-परम-हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उस से आत्म-उत्सर्ग की है ॥४१॥

जो होतो है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते आत्म-त्यागी उसे हैं।

जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है ।
प्यारी सच्चा अवनितल में आत्म-त्यागी वही है ॥४२॥
जो पृथ्वी के बिपुल-सुख की माधुरी है पिपाशा ।
प्राणी-सेवा जनित-सुख की प्राप्ति तो जह्नुजा है ।
जो आद्या है नखत-द्युति सी व्याप-जाती उरों में ।
तो होती है लसित उस में कौमुदी सी द्वितीया ॥४३॥
भोगों में भी यद्यपि कितनी रंजिनी-शक्तियां हैं ।
वे तो भी हैं जगत-हित लौं मुग्ध-कारी न होते ।
देखे जाते कलुष उन में क्लान्ति-कारी बड़े हैं ।
पाई जाती लसित इस में शान्ति-लोकोत्तरा है ॥४४॥
है आत्मा का न सुख किसको बिश्व के मध्य प्यारा ।
सारे-प्राणी स-रूचि इस की माधुरी में बंधे हैं ।
जो होता है न वश इस के आत्म-उत्सर्ग-द्वारा ।
ऐ-कान्ते है सफल अवनी मध्य आना उसी का ॥४५॥
जो है भावी परम-प्रबला दैव-इच्छा प्रधाना ।
तो होवेगा उचित न, दुखी वांछितों हेतु होना ।
श्रेयः-कारी-परम दयिते सात्विकी-कार्य्य होगा ।
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्व-भूतोपकारी ॥४६॥

वंशस्थ छन्द ।

अतीव हो अन्य-मना बिषादिता ।
बिमोचते वारि दृगारबिन्द से ।
समस्त-सन्देश सुना ब्रजेश का ।
ब्रजेश्वरी ने उर को करों गहे ॥४७॥

पुनः उन्होंने अति-शान्त भाव से ।
कभी दुखों साथ कभी स-धीरता ।
कहीं स्व-बातें बल-बीर-बंधु से ।
दिखा कलत्रोचित चित्त-उच्चता ॥४८॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

मैं हूं ऊधो पुलकित हुई आप को आज पाके।
सन्देशों को श्रवण कर के और भी मोदिता हूं।
मंदी-भूता, उर-तिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान-आभा।
उद्दीप्ता हो उचित-गति से उज्ज्वला हो रही है ॥४६॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पुहुमी-रत्न औ शान्त-धी हैं।
सन्देशों में तदपि उन की, बेदना व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ तरल-उर हूं प्यार से बंचिता हूं।
जो होती हूँ बिकल-बिमना-व्यस्त वैचित्र्य क्या है ॥५०॥

हो जाती है रजनि मलिना ज्यों कला-नाथ डूबे।
बाटी शोभा-रहित बनती ज्यों बसन्तान्त में है।
यों हीं प्यारे कमल-मुख की कान्ति से बंचिता हो।
श्री-हीना औ मलिन ब्रज की मेदिनी हो गई है ॥५१॥

जैसे बीची सहज उठती बारि में वायु से है।
वोंही होता चलित-चित है कश्चिदावेग-द्वारा।
उद्वेगों से व्यथित-बनना बात-स्वाभाविकी है।
हां ज्ञानी औ बिबुध-जन में मुह्यता है न होती ॥५२॥

पूरा-पूरा-परम-प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूं।
है जो बांछा बिशद उर में जानती भी उसे हूं।
यत्नों-द्वारा प्रति-दिन अतः संयता मैं महा हूं।
तो भी देती बिरह-जनिता बासनायें व्यथा हैं ॥५३॥

जो मैं कोई बिहग उड़ता देखती व्योम में हूं।
तो उत्कण्ठा-बिबश चित में आज भी सोचती हूं।
होते मेरे निबल-तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती ॥५४॥

जो उत्कण्ठा अधिक-प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की।
जो हो जाती पवन, गति-पा बांछिता-लोक-प्यारी।
मैं छू आती परम-प्रिय के मंजु-पादाम्बुजों को ॥५५॥

निर्लिप्ता औ तदपि अति ही संयता नित्य मैं हूं।
तो भी होती अति व्यथित हू श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥५६॥
हो जाता है उदित उर में मोह जो रूप-द्वारा।
व्यापी भू में अधिक जिस की मंजु-कार्य्यावली है।
जो प्रायः है प्रसव-करता-मुग्धता मानसों में।
जो है क्रीड़ा-अवनि चित की भ्रान्ति उद्विग्नता का ॥५७॥
जाता है पंच-शर जिसकी 'कल्पिता-मूर्त्ति' माना।
जो पुष्पों के बिशिख-बल से बिश्व को बेधता है।
भावों-डूबी मधुर-महती चित्त विक्षेप-शीला।
न्यारी-लीला-बिपुल जिस की मानसोन्मादिनी है ॥५८॥
देखी जाती तदपि उस में ईदृशी-शक्तियां हैं।
ज्ञाताओं ने प्रणय उस को है बताया न तो भी।
है दोनों से उरसि बढ़ती भूरि-आसंग-लिप्सा।
होती है किन्तु प्रणय-ज ही स्थायिनी औ प्रधाना ॥५६॥
जैसे पानी-प्रणय तृषितों की तृषा है न होती।
हो पाती है न क्षुधित-क्षुधा अन्न-आसक्ति जैसे।
रूपाधारों मधुर-छबि की मूर्त्तियों-मध्य यों ही।
हो पाता है न प्रणय, हुआ मोह रूपादि-द्वारा ॥६०॥
मूली-भूता-प्रणय बिबिधा-बुद्धि की वृत्तियां हैं।
हो जाती हैं समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणों से।
वे होते हैं नित-नव, तथा दिव्यता-धाम स्थायी।
पाई जाती प्रणय-पथ में स्थायिता है इसी से ॥६१॥
हो जाता है विकृत स्थिरता-हीन है रूप होता।
पाई जाती नहिं इस लिये मोह में स्थायिता है।
होता है रूप विकशित भी प्रायशः एक ही सा।
हो जाता है प्रशमित अतः मोहसंभोग से भी ॥६२॥

नाना-स्वार्थों विविध-सुख की बासना मध्य डूबा।
आवेगों से बलित ममता-वान है मोह होता।
निष्कामी है प्रणय शुचिता-मूर्त्ति है सात्विकी है।
होती सीमा-चरम उस में आत्म-उत्सर्ग की है॥ ६३॥

सद्यः होती फलित, चित में मोह की मत्तता है।
धीरे धीरे प्रणय बसता, व्यापता है उरों में।
हो जाती हैं विवश अपरा-वृत्तियां मोह-द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता सर्वसद्वृत्ति को है॥ ६४॥

हो जाते हैं उदय कितने-भाव ऐसे उरों में।
होती है मोह-वश जिन में प्रेम की भ्रान्ति प्रायः।
वे होते हैं न प्रणय न वे हैं समीचीन होते।
पाई जाती अधिक उन में मोह की बासना है॥ ६५॥

हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुख की भूयसी-लालसा से।
जो वृत्ती है हृदय-तल की आत्म-उत्सर्ग-शीला।
पुण्याकांक्षा सुयस-रुचि वा धर्म-लिप्सा बिना ही।
ज्ञाताओं ने प्रणय अभिधा दान की है उसी को॥ ६६।

आदौ होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति-द्वारा।
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग-लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है।
पीछे खो आत्म-सुधि लसती आत्म-उत्सर्गता है॥ ६७॥

सद्गंधों से मधुर-स्वर से स्पर्श से औ रसों से।
जो हैं प्राणी-हृदय-तल में मोह उद्भूत होते।
वे ग्राही हैं यदपि चित के रूप के मोहही से।
हो पाते हैं तदपि उतने मत्त-कारी नहीं वे॥ ६८॥

व्यापी भी है अधिक उनसे रूप का मोह होता।
पाया जाता प्रबल उसका चित्त चाञ्चल्य भी है।
मानी जाती न छिति-तल में है पतंगोपमाना।
भृगों मीनों द्विरद मृग की मत्तता प्रीतिमत्ता॥ ६९॥

ए-आँखें हैं जिधर-फिरतीं चाहती श्याम को हैं।
कानों को भी मुरलि रव की आज लौं लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो बिलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति प्यारी उन्हीं की ॥७७॥
जो होता है उदित नभ में कौमुदी कांत आके।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
लोने-लोने-हरित दल के पादपों को बिलोके।
प्यारा-प्यारा-बिकच-मुखड़ा है मुझे याद आता ॥७८॥
कालिन्दी के पुलिन पर जा, या, सजीले-सरों में।
जो मैं फूले-कमल-कुल-को मुग्ध हो देखती हूँ।
तो प्यारे के कलित कर की औ अनूठे-पगों की।
छा जाती है सरस-सुषमा बारि-स्रावी दृगों में ॥७९॥
जो ताराओं-खचित-नभ को देखती हूं निशा में।
या मेघों में मुदित-बक की पंक्तियां दीखती हैं।
तो जाती हूं उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानों मुक्ता-लसित-उर है श्याम का दृष्टि आता ॥८०॥
छू देती है मृदु पवन जो पास-आ गात मेरा।
तो हो जाती परस-सुधि है श्याम-प्यारे-करों की।
सद्गन्धों से सनित वह जो कुञ्ज में डोलती है।
तो होती है सुरति मुख की साँस आमोदिता की ॥८१॥
ऊँचे-ऊँचे-शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम-दृढ़ता मेरु आगे दृगों के।
नाना-क्रीड़ा-निलय-झरना चारु-छींटें उड़ाना।
उल्लासों को कुंवर-वर के चक्षु में है लसाता ॥८२॥
कालिन्दी एक प्रिय-तम के गात की श्यामता ही।
मेरे प्यासे-युग नयन के सामने है न लाती।
प्यारा-लीला-सकल अपने कूल की चित्त में भी।
नाना-भावों-सहित नित है मंजुता से लसाती ॥८३॥

संध्या फूली परम-प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि-तन में श्याम का रङ्ग छाया।
ऊषा आती प्रति-दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर-बदन सा ओप आदित्य में है ॥८४॥
मैं पाती हूं अलक-सुषमा भृंग की मालिका में।
है आँखों की सु-छबि मिलती खंजनों औ मृगों में।
दोनों बाँहें कलभ-कर को देख हैं याद आतीं।
पाई शोभा विविध शुक के ठोर में नासिका की ॥८५॥
है दाँतों की झलक मुझ को दीखती दाड़िमों में।
बिम्बाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों में जघन-युग की देखती मंजुता हूं।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती ॥८६॥
नेत्रोन्मादी बहु-मुद-मयी-नीलिमा गात की सी।
भावों-डूबे गगन-तल के अङ्क में राजती है।
भू में शोभा, सुरस जल में, वह्नि में दिव्य-आभा।
मेरे प्यारे-कुंवर वर सी प्रायशः है दिखाती ॥८७॥
सायं-प्रातः विविध-स्वर से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी-प्यारी मधुर-ध्वनियाँ मत्त हो हैं सुनाते।
मैं पाती हूं मधुर-ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी-तानें परम-प्रिय की मोहिनी-बंशिका की ॥८८॥
मेरी बातें श्रवण कर के आप उद्विग्न होंगे।
जानेंगे मैं विवश उन के हूं महा-मोह-मग्ना।
सच्ची यों है न निज-सुख के हेतु मैं मोहिता हूं।
संरक्षा में प्रणय-पथ के भावतः हूँ सयत्ना ॥८९॥
हो जाती है विधि-सृजन से ईख में माधुरी जो।
आ जाता है सरस रंग जो पुष्प की पंखड़ी में।
क्यों होगा सो रहित रहते इक्षुता-पुष्पता के।
ऐसे ही क्यों प्रसृत उर से जीवनाधार होगा ॥९०॥

क्यों मोहेंगे न दृग लख के मूर्त्तियां रूप-वाली।
कानों को भी मधुर-स्वर से मुग्धता क्यों न होगी।
क्यों डूबेंगे न उर रँग में प्रीति-आरंजितों के।
धाता-द्वारा सृजित तन में तो इसी हेतु वे हैं ॥९१॥
छाया-ग्राही मुकुर यदि हो बारी हो चित्र क्या है।
जो वे छाया ग्रहण न करें चित्रता तो यही है।
वैसेही नेत्र श्रुति उर में जो न रूपादि व्यापें।
तो विज्ञानी-विबुध उन को स्वस्थ कैसे कहेंगे ॥९२॥
पाई जाती श्रवण करने आदि में भिन्नता है।
देखा जाना प्रभृति भव में भूरि-भेदों भरा है।
कोई होता कलुष-युत है कामना-लिप्त होके।
होता कोई परम-शुचितावान औ संयमी है ॥९३॥
पक्षी होता सु-पुलकित है देख सत्पुष्प फूला।
भौंरा-शोभा-निरख रस ले मत्त हो गूंजता है।
अर्थी-माली मुदित बन भी है उसे तोड़ लेता।
तीनों काही कल-कुसुम का देखना यों त्रिधा है ॥९४॥
लोकोल्लासी-छबि लख किसी रूप-उद्भासिता की।
कोई होता मदन-बश है मग्न-आनन्द कोई।
गाता कोई परम-प्रभु को कीर्ति है मुग्ध-सा हो।
यों तीनों की प्रचुर-प्रखरा दृष्टि है भिन्न होती ॥९५॥
शोभा-वाले-बिटप बिलसे पक्षियों के स्वरों से।
बिज्ञानी है परम-प्रभु के प्रेम का पाठ पाता।
व्याधा की हैं बधन-रुचियाँ और भी तीव्र होतीं।
यों दोनों के श्रवण करने में बड़ी-भिन्नता है ॥९६॥
यों ही है भेद-युत चखना सूँघना और छूना।
पात्रों में है प्रगट इन की भिन्नता नित्य होती।
ऐसा ही हैं हृदय-तल के भाव में भिन्नतायें।
भावों ही से अवनि-तल है स्वर्ग के तुल्य होता ॥९७॥

प्यारे आवें सु-बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन-दुख हो दूर मैं मोद पाऊं।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए-भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें ॥९८॥
जो होता है हृदय-तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी-वृत्ति-वाला।
नाना-भोगों-बलित, बिविधा-बासना-मध्य-डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी-वृत्ति शाली ॥९९॥
निष्कामा है सुखद-भव है और है विश्वप्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति-शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय-तल की सात्विकी-वृत्ति ही है ॥१००॥
जिह्वा नासा श्रवण अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यों त्यागेंगे प्रकृति अपने कार्य्य को क्यों तजेंगे।
क्यों होवेंगी रहित उर से लालसायें, अतः मैं।
रंगे देती प्रति दिन उन्हें सात्विकी-वृत्ति में हूँ ॥१०१॥
कंजों का या उदित-शशि का देख सौन्दर्य्य आँखों।
कानों-द्वारा श्रवण कर के गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित, अब हूं शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पांव, मुख, मुरली नाद जैसा उन्हें पा ॥१०२॥
योंही जो है अवनि नभ में दिव्य, प्यारा, उन्हें मैं।
जो छूती हूं श्रवण करती देखती सूँघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित उन में भावतः श्याम को पा।
न्यारी-शोभा, सुगुन-गरिमा साम्यता-अंग जाता ॥१०३॥
हो जाने से हृदय-तल का भाव ऐसा निराला।
मैं ने न्यारे-परम गरिमा-वान दो-लाभ पाये।
मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा।
मैं ने देखा परम-प्रभु को स्वीय-प्राणेश ही में ॥१०४॥

पाई जाती बिविध जितनी वस्तु हैं जो सबों में।
मैं प्यारे को अमित-रँग औ रूप में देखती हूं।
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा ॥१०५॥
जो आता है न मन चित में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय नहिं है नित्य अव्यक्त जो है।
है इन्द्री की न गति जिस में औ गुणातीत जो है।
सो क्या है, मैं अबुध-अबला जान पाऊं उसे क्यों ॥१०६॥
शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्यायें हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता खाता श्रवणकरता देखता सूँघता है ॥१०७॥
ज्ञाताओं ने विशद इस का मर्म्म यों है बताया।
सारे-प्राणी अखिल जग के मूर्त्तियाँ हैं उसीकी।
होती आँखें-प्रभृति उन की भूरि-संख्या-वती हैं।
सो विश्वात्मा अमित-नयनों-आदि-वाला अतः है ॥१०८
निष्प्राणों को बिफल बनतीं सर्व-गात्रेन्द्रियाँ हैं।
इन्द्री की है कृति कर रही वस्तुतः शक्ति-अन्या।
सो है नासा न दृग रसना आदि ईशांश ही है।
नासा नेत्रादि बिनु सुतरां सूँघता आदि सो है ॥१०९॥
ताराओं में तिमिर-हर में बह्नि में औ शशी में।
पाई जाती परम रुचिरा-ज्योतियाँ हैं उसी की।
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपों में खगों में।
देखी जाती प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की है। ११०॥
प्यारी-सत्ता जगत गत की नित्य लीला-मयी है।
स्नेहों सिक्ता परम-मधुरा पूतता में पगी है।
ऊँची-न्यारी-सरल-सरसा ज्ञानगर्भा मनोज्ञा।
पूज्या मान्या हृदय तल की रंजिनी उज्ज्वला है ॥१११॥

मैंने बातें कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात की हैं।
वे बातें हैं प्रगट करती हैं प्रभू विश्व-रूपी।
पाती हूं विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण प्यारा।
ऐसे मैं ने जगतपति को श्याम में है बिलोका ॥११२॥

शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुजतन की सर्व संसिद्धियों से।
मैं होती हूं सुखित यह जो तत्वतः देखती हूं।
प्यारे की औ परम-प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना ॥११३॥

द्रुतविलंबित छन्द।

जगत-जीवन प्राण-स्वरूप का।
निज पिता जननी गुरु-आदि का।
स्व-प्रिय का प्रिय साधन भक्ति है।
वह अ-काम महा-कमनीय है ॥११४॥

श्रवण कीर्त्तन बन्दन दासता।
स्मरण आत्म-निवेदन अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है ॥११५॥

वंशस्त छन्द।

बना किसी की यक-मूर्त्ति कल्पिता।
करे उसी की पद-सेवनादि जो।
न तुल्य होगा वह बुद्धि दृष्टि से।
स्वयं उसी की पद-अर्चनादि के ॥११६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे-प्राणी सरि गिरि लता बेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावों सिक्ता परम-प्रभु की भक्ति-सर्वोत्तमा है ॥११७॥

जी से बात-सकल सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों की।
रोगी-प्राणी व्यथित जन की लोकउन्नायकों की।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में ॥११८॥

सोये जागे, तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सु-पथ पर औ ज्ञान-उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य-न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभु वर की कीर्त्तनोपाधि-वाली ॥११९॥

विद्वानों के स्व-गुरु-जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सु-चरित गुणी राज्ञ-तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी बिबुध-जन के देव-सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है बन्दनाख्या ॥१२०॥

जो बातें हैं भव-हितकरी सर्व-भूतोपकारी।
जो चेष्टायें मलिन-गिरती जातियां हैं उठाती।
हाथों-बाँधे सतत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति भव-सुखदा दासता-संज्ञका है ॥१२१॥

कंगालों की बिबश बिधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्य्यों का बिबिध-पर की पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती स्मरण-अभिधा भक्ति है भावुकों में ॥१२२॥

द्रुतविलम्बित छन्द।

विपत-सिन्धु पड़े नर-वृंद के।
दुख-निवारण औ हित के लिये।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित आत्म निवेदन-भक्ति है ॥१२३॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

संत्रस्तों को शरण मधुरा-शान्ति संतापितों को ।
निर्बोधों को सु-मति बिबिधा-औषधी पीड़ितों को ।
पानी देना तृषित-जन को अन्न भूखे नरों को ।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना-संज्ञका है ॥१२४॥

नाना-प्राणी तरु गिरि लता वेलि की बात ही क्या ।
जो है भू में गगन-तल में भानु से मृत्कणों लौं ।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य-प्रत्येक लेना ।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य-नाम्नी ॥१२५॥

वसन्ततिलका छन्द ।

जो प्राणिपुंज निज कर्म्म-निपीड़नों से ।
नीचे समाज-बपु के पग लौं पड़ा है ।
देना उसे शरण मान प्रयत्न-द्वारा ।
है भक्ति लोक-पति की पद-सेवनाख्या ॥१२६॥

द्रुतविलम्बित छन्द ।

कह चुकी प्रिय-साधन ईश का ।
कुँवर का प्रिय साधन है यही ।
इस लिये प्रिय की परमेश की ।
परम-पावन-भक्ति अ-भिन्न है ॥१२७॥

यह हुआ मणि-कांचन-योग है ।
मिलन है यह स्वर्ण-सुगंध का ।
यह सुयोग मिले बहु-पुण्य-से ।
अवनि में अति-भाग्य-वती हुई ॥१२८॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

जो इच्छा है परम-प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उस को भूल कैसे सकूंगी।
यों भी मेरे परम-व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊंगी अधिक अब मैं दत्त-चित्ता इन्हीं में ॥१२६॥

मैं मानूगी अधिक मुझ में मोह-मात्रा अभी है।
तोभी होती प्रणय-रँग में नित्य आरंजिता हूं।
ऐसी हूंगी निरत अब मैं स्वीय-कार्य्यावली में।
जी में मात्रा-प्रणय जिससे पूर्णतः व्याप्त होवे ॥१३०॥

मैंने पाँवों-निकट प्रिय के बैठ, है भक्ति सीखी।
यत्नों-द्वारा बिविध उसका मर्म्म है बूझ पाया।
चेष्टा ऐसी सतत अपनी बुद्धिद्वारा-करुंगी।
भूलूं चूकूं न इस व्रत की पूत-कार्य्यावली में ॥१३१॥

जाके मेरी-विनय इतनी नम्रता से सुनावें।
मेरे प्यारे कुँवर-बर को आप सौजन्य-द्वारा।
मैं ऐसी हूं-न निज-दुख से कष्टिता शोक-मग्ना।
हा! जैसी हूं व्यथितबृज के बासियों के दुखों से ॥१३२॥

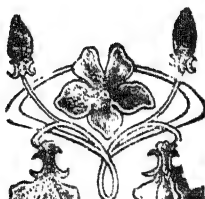
गोपी गोपों व्यथित-बृज की बालिका बालकों को।
आके पुष्पानुपम मुखड़ा प्यार डूबा दिखावें।
बाधा कोई न यदि प्रिय के चारु-कर्त्तव्य में हो।
तो वे आके जनक जननी की दशा देख जावें ॥१३३॥

मैं मानूंगी अधिक बढ़ता लोभ है लाभ ही से।
तो भी होगा सु-फल कितनी-भ्रान्तियाँ दूर होंगी।
जो उत्कण्ठा-जनित दुखड़े दाहते हैं उरों को।
सद्वाक्यों से प्रबल उनका वेग भी शान्त होगा ॥१३४॥

सत्कर्मी हैं परम-शुचि हैं आप ऊधो सुधी हैं।
अच्छा होगा सनय यह जो आप चाहें प्रभू से।
आज्ञा भूलूं न प्रियतम की विश्व के काम आऊं।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥१३५॥

द्रुतबिलंवित छन्द।

चुप हुईं इतना कह मुग्ध हो।
ब्रज-कुमारि-विभूषण-राधिका।
चरण की रज ले हरिबंधु भी।
परम-शान्ति-समेत बिदा हुए ॥१३६॥



सप्तदश सर्ग ।

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

ऊधो लौटे निज नगर में मास पूरा छ बीते ।
आये थे वे ब्रजअवनि में दो-दिनों के लिये ही ।
आया कोई न फिर ब्रज में औ न गोपाल आये ।
धीरे धीरे निशि-दिन लगे बीतने क्लेश-डूबे ॥१॥

बीते थोड़ा-दिवस ब्रज में एक-सम्वाद आया ।
कंसारी को दलन करने की महा-कामना से ।
नाना-ग्रामों बिबिध पुर को फूँकता भू कँपाता ।
ले के सेना बिपुल मथुरा है जरा-सन्ध आता ॥२॥

ए बातें ज्यों ब्रजअवनि में हो गईं व्यापमाना ।
सारे-प्राणी अति व्यथित हो शोक-अंभोधि डूबे ।
क्या होवेगा परम-प्रिय की आपदा क्यों टलेगी ।
होने ऐसो प्रति-पल लगीं तर्कनायें उरों में ॥३॥

जो होती थी गगन-तल में उत्थिता धूलि यों ही ।
तो आशंका-बिबश बनते लोग थे बावले से ।
जो टापे हो ध्वनित उठतीं घोटकों की कहीं भी ।
तो होता था हृदय-शतधा गोप-गोपांगना का ॥४॥

धीरे धीरे दिवस यह भी व्यग्रता-धाम बीते ।
लोगों द्वारा यह शुभ-समाचार आया गृहों में ।
सारी-सेना निहत अरि की हो गई श्याम हाथों ।
प्राणों को ले मगध-अवनी-नाथ उद्विग्न भागा ॥५॥

बारी बारी ब्रज-अवनि को कम्पमाना बना के ।
बातें धावा-मगध-पति की सत्तरा-बार फैलीं ।
आया सम्वाद ब्रज मही में बार-अट्ठारहीं जो ।
टूटी आशा-सकल उस से नन्द-गोपादिकों की ॥६॥

दोनों-हाथों पकड़ अबकी बार ऊबा-कलेजा ।
रोते धोते यह दुख-मयी बात जानी सबों ने ।
उत्पातों से मगध-पति के श्याम ने व्यग्र हो के ।
त्यागा प्यारा-नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में ॥७॥
जैसे बीते शरद-ऋतु है घेर लेती अनाशा ।
स्वाती-बुंदों-रत अति-तृषा से तपे चातकों को ।
वैसेही श्री-कुंवर-वर के जा बसे द्वारिका में ।
गोपी-गोपों-हृदय-तल में घोर छाई निराशा ॥८॥
प्राणी आशा-कमल-पग को है नहीं त्याग-पाता ।
सो बीची लौं लसित रहती जीवनांभोधि में है ।
छाई व्यापी तिमिर उर-भू सी निराशा जहां है ।
हो जाती है उदित मलिना-ज्योति-आशा वहां भी ॥९॥
आशा त्यागी न ब्रज-महि ने हो निराशा-मयी भी ।
लाखों-आँखें पथ-कुंअर का आज भी देखती थीं ।
मात्रायें थीं समधिक हुई शोक-दुःखादिकों की ।
लोहू आता बिपुल-दृग में बारि के स्थान में था ॥१०॥
कोई प्राणी स-दुख कब लौं खिन्न होता रहेगा ।
ढालेगा नेत्रजल कब लौं थाम टूटा-कलेजा ।
जी को मारे नखत गिन के ऊब के दग्ध होके ।
कोई होगा बिरत कबलौं विश्व-व्यापी-सुखों से ॥११॥
न्यारी-आभा-त्रिलय-किरणें सूर्य्य की औ शशी की ।
ताराओं से खचित नभ की नीलिमा मेघ-माला ।
रूखों की औ ललित-लतिका-बेलियों की छटायें ।
नाना-क्रीड़ा सरित सर औ निर्झरों के जलों की ॥१२॥
मीठी-तानें मधुर-लहरें गान-बाद्यादिकों की ।
प्यारी बोली बिबिध खग की बालकों की कलायें ।
सारी शोभा सकल-ऋतु की पर्व की उत्सवों की ।
वैचित्र्यों से बलित-धरती-विश्व की सम्पदायें ॥१३॥

नाना-प्राणी विविध-दुख से दग्धका दृष्टि आना।
जो आँखों में कुटिल-जग का चित्र सा खींचते हैं।
आख्यानों के सहित विविधा-शान्त्वना सज्जनों की।
संतानों की सहज ममता पेट-धन्धे-सहस्त्रों ॥१४॥
हैं प्राणी के हृदय-तल को फेरते मोह लेके।
धीरे धीरे दुसह-दुख का वेग भी हैं घटाते।
नाना-भावों सहित अपनी व्यापिनी मुग्धता से।
वे हैं प्रायः व्यथित-उर की वेदनायें नसाते ॥१५॥
गोपी-गोपों जनक जननी बालिका-बालकों का।
चित्तोन्मादी-प्रबल दुख का वेग भी काल पाके।
प्यारे भावों सहित बदला हो गया न्यून प्रायः।
तो भी व्यापी हृदय-तल में श्यामली मूर्ति ही थी ॥१६॥
वे गाते तो मधुर-स्वर से श्याम की कीर्ति गाते।
प्रायः चर्चा-समय चलती बात थी श्याम ही की।
मानी जातीं सुतिथि वह थीं पर्व औ उत्सवों की।
थीं लीलायें-ललित जिन में राधिका-कान्त ने की ॥१७॥
खोदेने में बिरहजनिता वेदना किल्विषों का।
ला देने में व्यथित-चित में शान्ति भावानुकूला।
यत्नों-द्वारा जनक जननी श्याम के बोधने में।
की थी चेष्टा विविध परमा-प्रेमिका राधिका ने ॥१८॥
चिन्ता-डूबी बिरह-बिधुरा भूरि-भावों निमग्ना।
जो थीं कौमार ब्रत-निरता बालिकायें अनेकों।
वे होती थीं बहु-उपकृता नित्य श्री राधिका से।
घंटों आके कमल-पग के पास वे बैठती थीं ॥ १९ ॥
जो छा जाती गगन-तल के अंक में मेघमाला।
जो केकी हो नटित करता केकिनी साथ क्रीड़ा।
उत्कण्ठा के विवश रटता पी कहाँ जो पपीहा।
तो उन्मत्ता-परम बन के बालिका वे अनेकों ॥ २० ॥

ये बातें थीं स-जल-घन को खिन्न हो हो सुनाती।
क्यों तू होके परम-प्रिय सा बेदना है बढ़ाता।
तेरी संज्ञा सलिल-धर है और पर्जन्य भी है।
ठण्ढा मेरे हृदय-तल को क्यों नहीं तू बनाता ॥२१॥
तू केकी को स्व-छबि दिखला मोद देता महा है।
वैसाही क्यों मुदित तुझ से है पपीहा न होता।
क्यों है मेरा-हृदय दुखता श्यामता देख तेरी।
क्यों ए तेरी त्रि-बिध मुझको मूर्तियाँ दीखती हैं ॥२२॥
ऐसी ठौरों पहुँच बहुधा राधिका कौशलों से।
ए बातें थीं पुलक कहती उन्मना-बालिका से।
देखो प्यारी-भगिनि भव को प्यार की दृष्टियों से।
जो थोड़ी भी हृदय-तल में शान्ति की कामना है ॥२३॥
ला देता है जलद दृग में श्याम की मंजु-शोभा।
पूँछों-द्वारा मुकुट-सुषमा है कलापी दिखाता।
पी का सच्चा-प्रणय उर में आँकता है पपीहा।
ए बातें हैं सुखद इन में भाव क्या है व्यथा का ॥२४॥
होती राका-विमल-विधु से बालिका जो बिपन्ना।
तो श्री-राधा-मधुर-स्वर से यों उसे थीं सुनाती।
तेरा होना बिकल दयिते बुद्धि-मत्ता नहीं है।
क्या प्यारे की बदनछबि तू इन्दु में है न पाती ॥२५॥

मालिनी छंद।

जब कुसुमित होतीं बेलियाँ औ लतायें।
जब ऋतु-पति आता आम की मंजरी ले।
जब रस-मय होती मेदिनी हो मनोज्ञा।
जब मनसिज लाता मत्तता मानसों में ॥२६॥
जब मलय-प्रसूता-वायु आती सु-सिक्ता।
जब तरु कलिका औ कोपलोंवान होता।

जब मधुकर-माला गूँजती कंज में थी।
जब पुलकित हो हो कूकतीं कोकिलायें ॥२७॥

तब ब्रज बनता था मूर्ति उद्विग्नता की।
प्रति-जन उर में थी वेदना वृद्धि पाती।
गृह-पथ-बन कुंजों मध्य थीं दृष्टि आती।
बहु-विकल उनींदी-ऊबती-बालिकायें ॥२८॥

इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में।
अति-सरल-स्वभावा सुन्दरी एक बाला।
निशि दिन फिरती थी प्यार के रंग डूबी
गृह-पथ-बहु-बागों कुंज-पुंजों-बनों में ॥२९॥

वह सहृदयता से ले किसी मूर्छिता को।
नित अति-उपयोगी अंक में यत्न द्वारा।
मुख पर उसके थी डालती बारिछींटें।
बर व्यंजन डुलाती थी कभी तन्मयी हो ॥३०॥

कुवलय दल बीछे-पुष्प औ पल्लवों को।
निज-कलित-करों से थी धरा में बिछाती।
उस पर यक-तप्ता-बालिका को सुला के।
वह निज कर से थी लेप सीरे लगाती ॥३१॥

यदि अति अकुलाती-उन्मना-बालिका को
वह कह मृदु बातें बोधती कुंज में जा।
बन बन बिलखाती तो किसी बावली का।
वह सँग रह छायातुल्य संताप खोती ॥३२॥

यक-थल अवनी में लोटती वंचिता को।
निज हृदय लगा के धूल जो पोंछती थी।

थल अपर उनींदी मोह मग्ना किसी को।
वह सिर सहलाती गोद में थी सुलाती ॥३३॥
सुन कर उसमें की आह-रोमांचकारी।
वह प्रति-गृह में थी शीघ्रता-साथ जाती।
फिर मृदु-बचनों से मोहनी उक्तियों से।
वह दुख व्यथिता का वेग उन्मूलती थी ॥३४॥
गिन गिन नभ-तारे ऊब आँसू बहा के।
यदि निज-निशि कोई बाल होती बिताती।
वह ढिग उस के भी रात्रि में ही सिधाती।
निज अनुपम-राधा-नाम की सार्थता से। ३५॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

राधा जाती प्रति-दिवस थीं पास नन्दांगना के।
नाना-बातें कथन कर के थीं उन्हें बोध देती।
जो वे होतीं परम-व्यथिता मूर्छिता या विपन्ना।
तो वे आठों पहर उनकी सेवना में बितातीं॥ ३६॥
घंटों लेके हरिजननि को गोद में बैठती थीं।
वे थीं नाना-जतन करतीं पा उन्हें शोक मग्ना।
धीरे धीरे चरण सहला औ मिटा चित्तपीड़ा।
हाथों से थीं युगल दृग के बारि को पोंछ देती॥ ३७॥
हो उद्विग्ना-परम जब यों पूछती थीं यशोदा।
क्या आवेंगे न अब ब्रज में जीवनाधार-मेरे।
तो वे धीरे मधुर-स्वर से हो विनीता बतातीं।
हां आवेंगे,व्यथित-ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे॥ ३८॥
आता ऐसा कथन करते वारि राधादृगों में।
बूंदों बूंदों टपक पड़ता गाल पै जो कभी था।
जो आंखों से सदुख उस को देख पातीं यशोदा।
तो धीरे यों कथन करतीं खिन्न हो तू न बेटी॥ ३९॥

होके राधा बिनत कहतीं मैं नहीं रो रही हूँ ।
आता मेरे युगलदृग में नीर-आनन्द का है ।
जो होता है पुलक करके आप की चारु सेवा ।
हो जाता है प्रगटित वही बारि द्वारा दृगों में ॥४०॥
वे थीं प्रायः ब्रज-नृपति के पास उत्कण्ठ-जाती ।
नाना-सेवा स्वकर करती क्लांतियां थीं मिटाती ।
बातों ही में विभव-जग की तुच्छता थीं दिखाती ।
जो वे होते बिकल; पढ़ के शास्त्र-नाना सुनाती ॥४१॥
होती मारे मन यदि कहीं गोप की पंक्ति बैठी ।
किम्बा होता विकल उन को गोप कोई दिखाता ।
तो कार्य्यों में बिविध, उनको यत्नतः वे लगातीं ।
औ ए-बातें कथन करतीं भूरि-गंभीरता से ॥४२॥
जी से जो आप-सब करते प्यार प्राणेश को हैं ।
तो पा भू में पुरुष-तन को, खिन्न होके न बैठें ।
उद्योगी हो परम रूचि से कीजिये कार्य्य ऐसे ।
जो प्यारे हैं परम प्रिय के बिश्व के प्रेमिकों के ॥४३॥
जो वे होता मलिन लखतीं गोप के बालकों को ।
देतीं पुष्पों रचित उनको मुग्ध-कारी-खिलोने ।
शिक्षा दे दे विविध उनसे कृष्ण-लीला करातीं ।
घंटों बैठी परम-रूचि से देखतीं तद्गता हो ॥४४॥
पाई जाती दुखित जितनी अन्य गोपांगना थीं ।
राधा-द्वारा-सुखित वह भी थीं यथा-रीति होती ।
गा के लीला-स्वप्रिय-तम की बेणु बीणा बजा के ।
बातें प्यारी-बिबिध कहके वे उन्हें बोध देतीं ॥४५॥
संलग्ना हो बिबिध कितने सान्त्वना-कार्य्य में भी ।
वे सेवा थीं सतत करती वृद्ध-रोगी जनों को ।
दीनों हीनों निबल विधवा आदि को मानती थीं ।
पूजी जाती ब्रज-अवनि में देवितुल्या अतः थीं ॥४६॥

खो देती थीं कलह-जनिता आधि के दुर्गुणों को ।
धो देती थीं मलिन-मन की व्यापिनी कालिमायें ।
वे देती थीं हृदय-तल में बीज भावज्ञता का ।
वे थीं क्लेशों-दलित-गृह में शान्ति-धारा बहाती ॥४७॥
आँटा चींटी विहग-गन थे बारि औ अन्न पाते ।
देखी जाती सदय उन की दृष्टि कीटादि में भी ।
पत्तों को भी न तरू-बर के वे बृथा तोड़ती थीं ।
जी से वे थीं निरत रहती भूत-सम्बर्द्धना में ॥४८॥
वे छाया थीं सु-जन-शिर की शासिका थीं खलों की ।
कंगालों की परम-निधि थीं औषधी पीड़ितों की ।
दीनों की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की ।
आराध्या थीं ब्रज अवनि की प्रेमिका-विश्व की थीं ॥४९॥
जैसा व्यापी दुसह-दुख था गोप गोपांगना का ।
वैसीही थीं सदय हृदया स्नेह की मूर्ति राधा ।
जैसी मोहों-कलित ब्रज में तामसी-रात आई ।
वैसे ही वे लसित उसमें कौमुदी के समा थीं ॥५०॥
जो थीं कौमार-व्रतनिरता बालिकायें अनेकों ।
वे भी पा के समय ब्रज में शान्ति विस्तारती थीं ।
श्री राधा के हृदय-बल से दिव्य शिक्षा गुणों से ।
वे भी छाया-सदृश उनकी वस्तुतः हो गई थीं ॥५१॥
तो भी आई न वह घटिका औ न वे बार आये ।
वैसी सच्ची सुखद ब्रज में वायु भी आ न डोली ।
वैसे छाये न घन रस की सोत सी जो बहाते ।
वैसे उन्माद-कर-स्वर से कोकिला भी न बोली ॥५२॥
जीते भूले न ब्रज-महि के नित्य उत्कण्ठ प्राणी ।
जी से प्यारे जलद-तन को, केलि-क्रीड़ादिकों को ।
पीछे छायाबिरह दुख की वंशजा-मध्य व्यापी ।
सच्ची यों है ब्रज-अवनि में आज भी अंकिता है ५३॥

सच्चे-स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व के प्रेम-डूबी।
हे विश्वात्मा-भरत-भुवि के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी बिरह-घटना किन्तु कोई न होवे ॥ ५४ ॥